RNI : UPHIN/2009/31180 ISSN: 2250-1894

सुमंगलम् प्रभा

(लोकमंगल की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

SUMANGALAM PRABHA

Research journal of Humanities

Intellectual effort on social values

A peer reviewed (Refereed) & open access journal

Impact Factor : 3.006 (I2OR)

Vol.-16, No.-IV, Issus-64 **Year: Jan-March 2026**

प्रबन्ध सम्पादक
डॉ0 हरनाम सिंह
असि. प्रोफेसर–अर्थशास्त्र,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ।

सम्पादक
राजकुमार
सचिव,
सुगंगलम सेवा साधना संस्थान,
लखनऊ।

सह सम्पादक
डॉ0 राघवेन्द्र प्रताप सिंह
असि.प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र,
बाबू अमर बहादुर सिंह विधि महाविद्यालय,
कुण्डा प्रतापगढ़, उ0प्र0।

प्रकाशक
SUMANGALAM
सुमंगलम् सेवा साधना संस्थान
नवीन मार्केट, कैसरबाग, लखनऊ–उ0प्र0।

संरक्षक

- **प्रो. के.एन. सिंह,** कुलपति, दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिहार।
- **प्रो. के.पी. सिंह,** कुलपति, महात्मा ज्योतिबा फुले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली उ0प्र0।
- **प्रो. प्रभा शंकर शुक्ल,** कुलपति, नार्थहिल इर्स्टन विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय।
- **प्रो. योगेन्द्र सिंह**, पूर्व कुलपति, जननायक चन्द्रशेखर विश्वविद्यालय, बलिया, उ0प्र0।
- **डॉ. अमित यादव,** निदेशक, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नईदिल्ली।
- **श्री मनोजकान्त मिश्र,** निदेशक, राष्ट्रधर्म प्रकाशन, लखनऊ।

परामर्शदाता

- **प्रो. प्रदीप राव,** गोरखपुर उ0प्र0।
- **प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह,** प्रयागराज, उ0प्र0।
- **प्रो. पुनीत कुमार द्विवेदी,** इन्दौर, म0प्र0।
- **प्रो. दुर्गेश चौधरी,** अध्यक्ष, धर्म एवं दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **प्रो. सभाजीत यादव**, पूर्व निदेशक, एन.टी.पी.सी.परिसर, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
- **डॉ. परमेन्द्र सिंह,** जम्मू।
- **डॉ. राजकुमार चौबे,** झारखण्ड, बिहार।
- **डॉ. रेखा त्रिपाठी,** कानपुर, उ0प्र0।

सम्पादक मण्डल

- **प्रो. संन्तोष कुमार गुप्त** अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, श्री मु.म.टा.स्ना.महाविद्यालय, बलिया।
- **प्रो. अशोक कुमार सिंह,** अध्यक्ष, मृदा एवं कृषि रसायन विभाग, श्री मु.म.टा.स्ना.महा.,बलिया।
- **डॉ. विनोद कुमार,** प्राचार्य, संघटक राजकीय महाविद्यालय, हसनपुर अमरोहा।
- **डॉ. जयन्त उपाध्याय,** अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, म.गा.अ.हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, म0प्र0।
- **डॉ. निरंजन कुमार यादव,** हिन्दी, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर उ0प्र0।
- **डॉ. ओम प्रकाश सिंह,** राजनीतिशास्त्र विभाग, महायोगी गोरखनाथ विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
- **डॉ. राजीव कुमार श्रीवास्तव,** समाजशास्त्र, श्री सुदृिष्ट बाबा स्ना.महाविद्यालय, रानीगंज, बलिया उ0प्र0।

विधि सलाहकार

- **श्री अनिल कुमार चौबे,** अधिवक्ता लखनऊ।

RNI : UPHIN/2009/31180 **ISSN: 2250-1894**

SUMANGALAM PRABHA

Research journal of Humanities

Intellectual effort on social values

A peer reviewed (Refereed) & open access journal

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

विषय सूची

1. बाल व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक दायित्व (पंडित दीनदयाल उपाध्याय के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में) **01-03**
   - **डॉ० राजीव कुमार श्रीवास्तव**
2. किशोरों की सामाजिक आर्थिक स्थिति: पाश्चात्य संस्कृति के संदर्भ में **04-06**
   - **1.दीप्ति श्रीवास्तव, 2. डॉ. मधुरिमा मिश्रा**
3. संगीत शिक्षण के क्षेत्र में इलेक्ट्रॉनिक वाद्य यंत्रों का महत्व **07-10**
   - **1. सुरबाला, 2. प्रो. ज्योति शर्मा**
4. वाल्मीकि रामायण में पर्यावरण विज्ञान **11-13**
   - **डॉ० क्षेमेन्द्र भारद्वाज**
5. कामकाजी महिलाओं की सामाजिक एवं पारिवारिक विचारधारा **14-15**
   - **नेहा कुमारी**
6. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का महत्व **16-18**
   - **डॉ० अश्विनी कुमार यादव**
7. भारतीय लोकतंत्र एवं भ्रष्टाचार: एक अध्ययन **19-20**
   - **पुष्पा कुमारी सोनी**
8. भारतीय ललित कलाओं का अंतर्संबंध **21-24**
   - **1. सुरबाला, 2. प्रो. ज्योति शर्मा**
9. नारीवाद : विकास के विविध चरण **25-27**
   - **डॉ० अमित कुमार**
10. बुन्देलखण्ड के किसानों की स्थिति, समस्या एवं समाधान **28-31**
    - **डॉ० धर्मेन्द्र सिंह**
11. अशोक के धम्म का तत्कालीन समाज पर प्रभाव (एक ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन) **32-34**
    - **प्रमोद कुमार**
12. भारत के स्वाधीनता संग्राम में कुमाऊँ की महिलाओं का योगदान **35-37**
    - **प्रियंका पाण्डे**
13. भारतीय संस्कृति में निहित वैज्ञानिक चेतना: इतिहास, परंपरा एवं आधुनिक प्रासंगिकता **38-41**
    - **डॉ० राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
14. दार्शनिक परामर्श : क्यों और कैसे समकालीन संदर्भों में उपयोगी है - एक दार्शनिक अनुशीलन **42-48**
    - **डॉ० श्रीप्रकाश तिवारी**
15. योग दर्शन में वर्णित यम-नियम का नैतिक अनुशीलन:योगसूत्र एवं प्रामाणिक ग्रंथों के विशेष संदर्भ में **49-52**
    - **प्रभा शंकर द्विवेदी**

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

बाल व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक दायित्व
(पंडित दीनदयाल उपाध्याय के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में)

डॉ० राजीव कुमार श्रीवास्तव
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर समाजशास्त्र विभाग,
समन्वयक - उ०प्र०रा०र्षि० मु०विश्वविद्यालय, पी०जी० कालेज बॉसडीह, बलिया, उ०प्र०

PP.N0- 01-03 **Received: 05.01.2026** **Accepted:12.01.2026** **Email:rajivshrivastav02@gmail.com**

सारांश: व्यक्तित्व वह समग्रता या योग्यता (Totality) है जिसमें व्यक्तित्व के सम्पूर्ण वाह्य एवं आन्तरिक गुणों-अवगुणों का समावेशित दिग्दर्शन होता है। इसमें वे सभी मानसिक क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं जो गतिशील संगठन से व्यक्तित्व पर प्रभाव डालती हैं। यह वातावरण से भी सम्बन्धित होती हैं।

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्तित्व (Personality) शब्द की उत्पत्ति देखें तो पाते हैं कि यह अंग्रेजी पर्सनालिटी शब्द लैटिन भाषा के 'परसोना' शब्द से बना है। पर्सोना शब्द उस नाटकीय पोशाक अथवा मुखौटे के लिए प्रयोग किया जाता है जिसे अभिनेता लोग किसी नाटक में अभिनय करते समय पहना करते थे। इस प्रकार यदि उत्पत्ति के हिसाब से देखें तो पाते हैं व्यक्तित्व का अर्थ मनुष्य की बाह्य शारीरिक आकृति से है। व्यक्तित्व की इस व्याख्या को संतोषप्रद नहीं माना जा सकता है क्योंकि व्यक्ति की बाहरी आकृति ही व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व का बोध नहीं कराती है अपितु उसके लिए कुछ आन्तरिक गुणों का होना आवश्यक है। बिना आन्तरिक गुणों के अच्छा व्यक्तित्व असम्भव है।

मोर्टन प्रिंस ने व्यक्तित्व के अर्थ से सम्बन्धित विचारधारा प्रकट करते हुए कहा है कि "व्यक्तित्व सभी जैविक जन्मजात प्रवृत्तियों इच्छाओं, भूख एवं मूल प्रवृत्तियों का योग है तथा इसमें अनुभव से प्राप्त अर्जित प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं।" इससे मानव की संरचना और योग्यता का बोध नहीं होता। कुर्ट लेविन ने अपनी पुस्तक 'ए डायनामिक थ्योरी ऑफ पर्सनालिटी' में कहा है कि "व्यक्ति व्यवस्थाओं का गत्यात्मक योग है।" वर्तमान समय में आलपोर्ट की परिभाषा सर्वोत्तम समझी जाती है। इनके अनुसार, "व्यक्तित्व मनोदैहिक व्यवस्थाओं का वह गत्यात्मक संगठन है, जो वातावरण के साथ उसके अपूर्व अभियोजन का निर्धारण करता है", किन्तु आलपोर्ट ये नहीं बताये कि व्यक्ति और समाज का क्या सम्बन्ध है और इन सम्बन्धों का व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है।

कुंजीभूत शब्द : बाल व्यक्तित्व, समग्रता, विचारधारा, समावेशित, दिग्दर्शन, पर्सनालिटी, मनोदैहिक, अर्जित प्रवृत्तियाँ

वस्तुतः व्यक्तित्व व्यक्ति को सक्रिय बनाती है और व्यवस्थित व्यवहार की ओर इंगित करती है तथा व्यक्ति के वंशानुक्रम के वातावरण द्वारा ग्रहीत गुणों के महत्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं वे ही व्यक्तित्व का सही मुखौटा मात्र हैं। व्यक्तित्व निश्चित एवं चिरस्थायी नहीं है। इस पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ता है इसमें से कुछ कारक शारीरिक रचना सम्बन्धी और जनजाति एवं दूसरे पर्यावरण सम्बन्धी हैं। नवजात शिशु अपने साथ वंशार्जित शक्तियों को लेकर आता है, जिसके द्वारा उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। अनेक अध्ययनों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है। वंशानुक्रम के कारण ही व्यक्तियों के शारीरिक तथा मानसिक लक्षणों में भिन्नता दिखाई पड़ती है। कुलीन और व्यावसायिक कुलों में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति ही साहित्य, विज्ञान तथा राजनीति के क्षेत्रों में यश प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अतः व्यक्तित्व पर व्यक्ति की ग्रन्थि-रचना, नलिका विहीन ग्रन्थियों, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों तथा शारीरिक रसायनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ता है।

व्यक्तित्व के विकास में प्रमुख रूप से जो कारक अधिक सहायक होते हैं, वे शारीरिक ग्रन्थि रचना, वातावरण तथा सीखना आदि हैं। जो ग्रन्थियाँ व्यक्तित्व के विकास में सबसे अधिक सहायता प्रदान करती हैं वे हैं-एड्रीनल ग्रन्थि, गोनाड्स, थायरायड तथा पिट्यूटरी ग्रन्थियाँ। इसके अतिरिक्त व्यक्तित्व के विकास में सहायक अन्य कारकों में प्रमुख हैं परिवार तथा विद्यालय का वातावरण। व्यक्तित्व एवं चरित्र दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। इनमें विभेद किया जा सकता है परन्तु ये दोनों वास्तव में घनिष्ठ रूप से एक दूसरे से सह सम्बन्धित हैं। चरित्र की परिभाषा- "एक व्यक्ति द्वारा व्यक्तित्व के गुणों के पूर्ण योग का प्रदर्शन दूसरे व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्धों में करना" समझी जा सकती है। व्यक्ति अपने चरित्र से सम्बन्धित प्रक्रिया आदत के रूप में सामाजिक स्थितियों में करता है। चरित्र ही व्यक्ति के नैतिक स्तर को प्रतिबिम्बित करता है। बच्चों के वांछनीय स्तरों के अनुरूप ढालना एवं उनमें नैतिक गुणों का प्रादुर्भाव करना व्यक्तित्व के संगठन से सम्बन्धित है। नैतिक विकास तथा व्यक्तित्व समन्वय साथ-साथ चलता है। चूँकि नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों के अभाव में व्यक्तित्व समन्वय का अर्थ स्पष्ट नहीं होता, अतः हम चरित्र को व्यक्तित्व से पृथक नहीं कर सकते हैं।

व्यक्तित्व के विकास का बच्चों के माता-पिता, समुदाय तथा समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालक कुछ जन्मजात विशिष्टताओं को लेकर पैदा होता है। ये विशिष्टतायें उसे अपने माता-पिता से वंश परम्परा के रूप में प्राप्त होती हैं। 'महान' महान को जन्म देता है के अनुसार,

जिस प्रकार का व्यक्तित्व माता-पिता का होता है वैसा ही व्यक्तित्व उनकी सन्तानों का होता है। वंशानुक्रम विशेषताओं के साथ-साथ बालक का व्यक्तित्व जो परिवार में विकसित हो रहा है, उस समय माता-पिता का बच्चे के प्रति व्यवहार, उनका एक दूसरे के प्रति व्यवहार, पारस्परिक घटनायें और उद्देश्य आदि सभी बालक के विकास के समय व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते हैं तथा इनका बालक के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। बालक जिस समुदाय व समाज का सदस्य होता है वह समुदाय तथा समाज भी उसके व्यक्तित्व से निकटतम सम्बन्ध रखता है। बच्चे में अनुकरण की प्रवृत्ति की प्रबलता होने के कारण वह अनेक बातें अपने सामुदायिक या सामाजिक जीवन में प्राप्त आदर्शों के अनुकरण के माध्यम से सीख लेता है। फलस्वरूप यदि परिवार, समुदाय या समाज का वातावरण आदर्श होता है तो बच्चे के व्यक्तित्व का विकास भी आदर्श रूप में होता है। उसके विपरीत यदि उपर्युक्त वातावरण दूषित है तो इस दूषित वातावरण का प्रभाव बालक के व्यक्तित्व पर अवश्य पड़ता है। इस प्रकार व्यक्तित्व का माता-पिता, समुदाय तथा समाज से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

समय अत्यन्त बलवान तथा परिवर्तनशील होता है। एक समय था जब विद्वता (बुद्धि और ज्ञान) का स्थान सर्वोपरि था (वैदिक युग)। इसके बाद समय परिवर्तित हुआ और विद्वता का स्थान शक्ति ने ले लिया, परन्तु आज का युग 'भौतिकवादी युग' है। यह उस सीमा तक पहुँच गया है, जिस सीमा पर कभी विद्वता तथा शक्ति विद्यमान थी। भौतिकवादी युग के पदार्पण का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास पर भी स्पष्ट रूप से पड़ता है। आज धनाभाव के युग में व्यक्तित्व के उचित विकास के लिए सोचा भी नहीं जा सकता। आज देश में ऐसे विद्यालय भी विद्यमान हैं जहाँ आर्थिक आश्रय पर ही बच्चों में विकास से सम्बन्धित समस्त प्रेरकों का संग्रह किया जाता है और ऐसा कृत्रिम वातावरण बनाने का प्रयास किया जाता है कि बच्चे के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके। "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" उक्ति के अनुसार, यदि व्यक्ति भूखा है तो वह प्रायः हर प्रकार का पाप करने के लिये तत्पर रहता है। इसके अतिरिक्त संतुलित भोजन के अभाव में उसका शारीरिक विकास भी उचित रूप में नहीं हो पाता तथा स्वस्थ शरीर के अभाव में उसमें स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण भी नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में उसके व्यक्तित्व के उचित विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कोई भी बच्चा अपनी अनिवार्यतम् आवश्यकताओं के पूर्ण होने की स्थिति में ही अपने विकास के लिये सचेष्ट रह सकता है। अतः बच्चे के व्यक्तित्व के विकास में धन की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता है।

इन तत्वों के अलावा धार्मिक संस्थाएँ, बालक की सामाजिक व आर्थिक स्थिति, उनके जीवन लक्ष्य, सामाजिक उत्सव, मेला-त्यौहार, चलचित्र, साहित्य, सामाजिक व चरित्र आदि अनेक बातें बालक के व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करती हैं।

समायोजित व्यक्तित्व की विशेषताएँ-

एक अच्छे व्यक्तित्व की निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं:

1.आत्मचेतना: व्यक्तित्व की सबसे प्रथम विशेषता आत्मचेतना है। आत्मचेतना वह शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सम्बन्ध में जानता है कि वह क्या है। वह यह भी जानने लगता है कि दूसरे व्यक्ति उसके बारे में क्या सोचते हैं। यह ज्ञान वास्तविक व्यवहारों को निर्धारित करता है। व्यक्ति वास्तव में वह नहीं है जो वह अपने बारे में सोचता है, व्यक्ति वास्तविक रूप में वह भी नहीं है, जो दूसरे उसके बारे में सोचते हैं वरन् व्यक्ति वह है, जो यह जानता है कि दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते हैं। ("I am not what I think I am, I am not what you think I am but I am what I think you think I am")

2.गत्यात्मकता: अच्छे व्यक्तित्व सदैव अपना तथा बाह्य परिस्थितियों का विश्लेषण करते रहते हैं तथा आवश्यकतानुसार अपने मूल्यों, विचारों, धारणाओं तथा आदर्शों में परिवर्तन करते रहते हैं। इन परिवर्तनों का उद्देश्य सदैव विकासात्मक होता है। परिणामस्वरूप अच्छा व्यक्तित्व हमेशा विकासोन्मुख होता है।

3.शारीरिक संरचना : अच्छे व्यक्तित्व का तीसरा चिन्ह अच्छी शारीरिक संरचना है। शारीरिक संरचना के अन्तर्गत ही हम शारीरिक स्वास्थ्य को सम्मिलित करते हैं। शारीरिक सम्पूर्णता जब तक नहीं होगी, तब तक व्यक्ति के व्यवहार भी सामान्य नहीं होते और न उसका विकास ही सन्तुलित होगा।

4.मानसिक स्वास्थ्य: अच्छे व्यक्तित्व का अच्छा मानसिक स्वास्थ्य होता है। व्यक्तित्व मनोदैहिक शक्तियों का संगठन है अर्थात् मानसिक व शारीरिक शक्तियों के संगठन को व्यक्तित्व कहा जाता है। अच्छे मानसिक स्वास्थ्य पर ही संवेगों का नियन्त्रण, सन्तुलित व्यवहार, तर्क, चिन्तन आदि क्रियाएँ निर्भर हैं।

5.समन्वय: व्यक्तित्व अनेक मनोदैहिक शक्तियों का योग मात्र नहीं है, वरन इसमें अनेकानेक शारीरिक मानसिक क्रियाओं का अद्भुत समन्वय होता है। यह किसी एक शक्ति का अकेला विकास नहीं है और पृथक-पृथक शक्तियाँ, एक-दूसरे से स्वतन्त्र होकर ही कार्य करती हैं, वरन् सम्पूर्ण शक्तियाँ एक होकर समन्वित रूप से कार्य करती हैं।

6.समायोजन शक्ति: अच्छा व्यक्तित्व आन्तरिक जीवन तथा बाह्य वातावरण के साथ अपने को समायोजित करने की शक्ति रखता है। कभी-कभी व्यक्ति का सामाजिक व भौतिक वातावरण अचानक उल्लेखनीय रूप से बदल जाता है। अच्छे व्यक्तित्व इन परिवर्तित वातावरण के साथ शीघ्र ही अपने को समायोजित कर लेते हैं और समायोजन में उन्हें अधिक कठिनाई नहीं आती है।

7.सामाजिकता: मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से भिन्न मानव की कल्पना आज के युग में नहीं की जा सकती है। उसे समाज में रहना ही है। समाज में रहकर उसे सामाजिक मान्यताओं, परम्पराओं, मूल्य तथा धारणाओं व रीति-रिवाजों का पालन भी करना होगा। उसे समाज के दूसरे सदस्यों के साथ मिलकर चलना होगा। अच्छा व्यक्तित्व इन कार्यों को सरलता से कर देता है।

8.दृढ़ इच्छा शक्ति: अच्छे व्यक्तित्व वाले व्यक्ति में दृढ़ इच्छा शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण ही वह लगन के साथ कार्य करता है तथा जीवन में आने वाले अनेकानेक संघर्षों का धैर्य के साथ मुकाबला करता है।

9.सन्तोष, उच्चाकांक्षा तथा उद्देश्यपूर्णता: अच्छे व्यक्तित्व में आत्मसन्तोष, हर पल पर आगे बढ़ने की आकांक्षा तथा अपने प्रत्येक कार्य को किसी-न-किसी उद्देश्य के साथ करने की योग्यता होती है। वह कोई भी कार्य उद्देश्यविहीनता की स्थिति में नहीं कर पाता है। सुनिश्चित उद्देश्य उसके प्रत्येक कार्य तथा व्यवहार को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है।

शिक्षा - समाज का दायित्व:समाज के सभी वर्ग के बच्चों को शिक्षा देना समाज के अपने ही हित में होता है। जन्म से मानव पशुवत पैदा होता है। शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है। जो काम समाज के अपने हित में हो, उसके लिए शुल्क लिया जाय यह तो उल्टी बात है। कल्पना करें कि कल को शिक्षा शुल्क का बहिष्कार करके अथवा उसे देने में असमर्थ होने के कारण बच्चे पढ़ना बन्द कर दें। क्या समाज इस स्थिति को सहन करेगा?

पेड़ लगाने और सींचने के लिए हम पेड़ से पैसा नहीं लेते। हम तो अपनी ओर से पूँजी लगाते हैं और जानते हैं कि पेड़ के फलने पर हमें फल मिलेंगे ही। शिक्षा भी इसी प्रकार का विनियोजन है। व्यक्ति शिक्षित होने पर समाज के लिए काम करेगा, किन्तु जो व्यवस्था बचपन से ही हमें व्यक्तिवादी बनाती है उसमें समाज की अवहेलना करने वाले निकलें तो आश्चर्य ही क्या है? भारत में 1947 से पूर्व सभी देशी राज्यों में कहीं भी शिक्षा का शुल्क नहीं लिया जाता था। उच्चतम श्रेणी तक की शिक्षा निःशुल्क थी। गुरुकुलों में तो भोजन एवं रहने की व्यवस्था भी आश्रम में होती थी। केवल भिक्षा माँगने के लिए ब्रह्मचारी समाज में जाता था। कोई भी गृहस्थ ब्रह्मचारी को खाली नहीं लौटाता था, अर्थात् समाज द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी।

निष्कर्ष - सारतः कहा जा सकता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व में भिन्न-भिन्न गुणों-शीलगुणों (Traits) का एक ऐसा संगठन होता है जिसके कारण उसका व्यवहार-विचार किसी भी पर्यावरण में अपने ढंग का अर्थात् अपूर्व (Unique) होता है और वह पर्यावरण को भी अपने अनुकूल बनाने में सक्षम होता है। अतः बालक के व्यक्तित्व के विकास में शिक्षक की भूमिका अपरिहार्य है। विद्यालय में शिक्षक सबसे प्रमुख व्यक्ति होता है जिसका प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव बालकों पर पड़ता है। शिक्षक बालक के व्यवहार को प्रभावित व प्रेरित करने का सबसे अधिक शक्तिशाली साधन भी है। यदि वह सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार प्रदर्शित करते हैं तो उनका प्रभाव उनके विद्यार्थियों पर अवश्य ही पड़ता है। इसके अलावा बालक के व्यक्तित्व विकास में परिवार व अभिभावकों का सहयोग आवश्यक है क्योंकि अधिक समय उनका घर में ही व्यतीत होता है। बालक के प्रारम्भिक वर्षों में नैतिक ज्ञान-शिक्षा दी जाय। इसके अलावा अभिभावक का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी बालकों पर पड़ता है। अतः आवश्यक है कि बालक व्यक्तित्व के निर्माण में शिक्षक व अभिभावक सकारात्मक योगदान दें।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ० मिश्रा, डी०सी० : शिक्षा मनोविज्ञान, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर
2. नौटियाल, जयप्रकाश : बाल विकास एवं शिक्षण अधिगम प्रक्रिया, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-2; 2009
3. चौहान, आर० एस० : बाल विकास के मनोवैज्ञानिक आधार, साहित्य प्रकाशन, आगरा-2009
4. डॉ० अग्रवाल, नीता : मातृकला एवं बाल विकास, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
5. डॉ० सिंह, अन्जू एवं डॉ० सिंह, सविता : बाल विकास, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद
6. डॉ० आराधना श्रीवास्तव : बाल विकास, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

किशोरों की सामाजिक आर्थिक स्थिति: पाश्चात्य संस्कृति के संदर्भ में

1.दीप्ति श्रीवास्तव, 2. डॉ. मधुरिमा मिश्रा

1.शोध अध्येत्री - गृहविज्ञान विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, (बिहार)

2. विभागाध्यक्ष - गृहविज्ञान विभाग, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, (बिहार)

PP.N0- 04-06 **Received: 07.01.2026** **Accepted:19.01.2026** **Email: madhupwns.ms@gmail.com**

सारांश: पाश्चात्य संस्कृति के विपरीत भारतीय संस्कृति में विवाह के लिए लड़कियों की आयु सीमा 18 साल और लड़कों के लिए 21 साल का निर्धारण किया गया है। भारतीय संस्कृति विश्व की अनोखी संस्कृति है और अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय संस्कृति के इन्हीं गुणों के कारण भारत को विश्व गुरु की उपाधि मिली हुई है। भारत में बालक की प्रथम पाठशाला उसका घर और प्रथम अध्यापिका उसकी मां को माना जाता है। बालक चार से पांच साल तक अपनी मां के सानिध्य में रहकर ही संस्कृति और सभ्यता आदि का ज्ञान प्राप्त करता है। उसके पश्चात् वह स्कूल में जाता है और वहां औपचारिक रूप से नैतिक शिक्षा, धर्म और संस्कृति आदि के साथ अक्षर ज्ञान आदि प्राप्त करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किशोरावस्था तक माता-पिता व शिक्षक बालक को अनेक प्रकार से विभिन्न विषयों का ज्ञान प्रदान करते हैं। साथ ही उसे देश की परंपरा आदि से भी परिचित कराने का काम करते हैं।

कुंजीभूत शब्द : संस्कृति, उपाधि, पाठशाला, अध्यापिका, सानिध्य, नैतिक शिक्षा, सभ्यता, दुष्प्रभाव, गतिविधि

किशोरों पर पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभावों के अध्ययन में किशोरों की सामाजिक-आर्थिक-मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि उसके सोचने-विचारने एवं विभिन्न प्रकार की गतिविधियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण उसकी उस पृष्ठभूमि का प्रतिफल है जिससे वह किसी न किसी रूप से संबंधित है और उसके क्रियाकलापों को प्रभावित करता है। किसी भी अध्ययन में सूचनादाताओं की आयु, शिक्षा, व्यवसाय, परिवार का स्वरूप, जाति तथा मासिक आय से संबंधित आंकड़ों का विश्लेषण किया जाता है। विश्लेषण का उद्देश्य यह ज्ञात करना होता है कि सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से संबंधित कुछ तत्व और किशोरों की स्थिति कहां तक किशोरों पर पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभावों को दर्शाती है।

किशोरावस्था संक्रमण काल है, जब एक व्यक्ति बच्चे से वयस्क बनने में शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से रूपांतरित होता है। यह ऐसा समय है जिसमें नई सामाजिक भूमिकाओं के लिए शारीरिक और मानसिक परिवर्तन की मांग होती है। इन परिवर्तनों के कारण किशोरों की भ्रांतियों और दुविधाओं का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था में बालक निर्भरता से स्वायत्तता की तरफ कदम बढ़ाता है। इस समय शारीरिक और सामाजिक परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण सामंजस्य की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में किशोरों के सामाजिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति होती है।

क्रॉ एवं क्रॉ के अनुसार— जब बालक 13 या 14 वर्ष की आयु में प्रवेश करता है तब उसके प्रति दूसरों और दूसरों के प्रति उसके दृष्टिकोण न केवल उसके अनुभवों में वरन् सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन करने लगते हैं।

इस परिवर्तन के कारण उसके सामाजिक विकास का स्वरूप अग्रनांकित होता है—

- बालकों एवं बालिकाओं में एक दूसरे के प्रति बहुत आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। अतः वे अपनी सर्वोत्तम वेश-भूषा, बनाव-श्रृंगार और सज-धज कर एक दूसरे के सामने अपने आप को उपस्थित करते हैं।
- बालक और बालिकाएं दोनों अपने-अपने समूहों का निर्माण करते हैं। इन समूहों का मुख्य बालक और इसका उद्देश्य मनोरंजन होता है; जैसे— पर्यटन, पिकनिक, नृत्य, संगीत आदि।
- कुछ बालक और बालिकाएं किसी भी समूह के सदस्य नहीं बनते हैं। वे उनसे अलग रहकर उनसे या विभिन्न लिंग के व्यक्तियों से घनिष्ठता स्थापित करते हैं और उन्हीं के साथ अपना समय व्यतीत करते हैं।
- बालकों में अपने समूह के प्रति अत्यधिक भक्ति होती है। वे उसके द्वारा स्वीकृत वेश-भूषा, आचार-विचार, व्यवहार आदि को अपना आदर्श बनाते हैं।
- समूह की सदस्यता के कारण उनमें नेतृत्व, उत्साह, सहानुभूति, सद्भावना आदि सामाजिक गुणों का विकास होता है। साथ ही उनकी आदतों, रुचियों और जीवन दर्शन का निर्माण होता है।
- इस अवस्था में बालकों और बालिकाओं का अपने माता-पिता से किसी न किसी बात पर संघर्ष या मतभेद हो जाता है। यदि माता-पिता अपनी स्वतंत्रता का दमन करके उनके जीवन को अपने आदर्शों के सांचे में ढालने की कोशिश

करते हैं या उनके समक्ष नैतिक आदर्श प्रस्तुत करके उनका अनुकरण किये जाने पर बल देते हैं तो नये खून में विद्रोह की भावना चीत्कार कर उठती है।

- किशोर बालक अपने भावी व्यवसाय का चुनाव करने के लिए सदैव चिंतित रहता है। इस कार्य में उसकी सफलता या विफलता उसके सामाजिक विकास को निश्चित रूप से प्रभावित करती है।
- किशोर बालक या बालिकाएं सदैव किसी न किसी चिंता या समस्या में उलझे रहते हैं; जैसे— पैसा, प्रेम, विवाह, कक्षा में प्रगति, पारिवारिक जीवन आदि। ये समस्याएं उनके सामाजिक विकास की गति को तीव्र या मंद, उचित या अनुचित दिशा प्रदान करती हैं।

यह अवधि किशोरों के लिए सामाजिक विकास और समायोजन की अवधि है। इस अवधि में सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक विकास साथियों के समूह प्रभाव में वृद्धि होना है। इस अवस्था में बालक के व्यवहार को आकार देने में साथी समूह के प्रकार का विशेष योगदान होता है। उनकी रुचियों, नजरियों और मूल्यों पर भी साथियों का प्रभाव पड़ता है। इस समयावधि में लड़के और लड़कियां समाज में अपने स्थान और स्थिति को लेकर सचेत हो जाते हैं और धीरे-धीरे सामाजिक गतिविधियों और समाज में अपने क्षेत्र में विस्तार करने की कोशिश करने लगते हैं। किशोरों के मस्तिष्क विकास की प्रवृत्ति होती है कि वे नये अनुभवों की तलाश करते हैं और अधिक जोखिमपूर्ण कार्य करना चाहते हैं।

बालक में इस अवधि में नैतिक मूल्यों और नैतिकता का विकास होता है और वह सही तथा गलत का निर्णय अपने तर्क के आधार पर करता है। इनमें आत्मसम्मान की भावना प्रबल होती है। वर्तमान समय में किशोर समाजीकरण में संवाद के विभिन्न तरीकों जैसे— इंटरनेट, मोबाइल फोन, सोशल मीडिया आदि को सीखता है, जो बालक के सामाजीकरण को एक नया आयाम प्रदान करता है।

स्किनर व हैरीमैन के शब्दों में— "वातावरण और संगठित साधनों में कुछ ऐसे विशेष कारक हैं जिनका बालक के सामाजिक विकास की दशा पर निश्चित और विशिष्ट प्रभाव पड़ता है।"

उल्लिखित कारकों में से अधिक महत्वपूर्ण अधोलिखित हैं—

1.वंशानुक्रम: कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि बालक के सामाजिक विकास पर वंशानुक्रम का कुछ सीमा तक प्रभाव पड़ता है। इसकी पुष्टि में क्रो और क्रो ने लिखा है— शिशु की पहली मुस्कान या उनका कोई विशिष्ट व्यवहार वंशानुक्रम से उत्पन्न होने वाला हो सकता है।

2.शारीरिक-मानसिक विकास: स्वस्थ व अधिक विकसित मस्तिष्क वाले बालक का सामाजिक विकास अस्वस्थ और कम विकसित मस्तिष्क वाले बालक की अपेक्षा अधिक होता है।

3.संवेगात्मक विकास: बालक के सामाजिक विकास का एक महत्वपूर्ण आधार उसका संवेगात्मक विकास है। क्रोध व ईर्ष्या करने वाला बालक दूसरे की घृणा का पात्र बन जाता है। इसके विपरीत प्रेम और विनोद से परिपूर्ण बालक सभी को अपनी ओर आकर्षित करता है। ऐसी स्थिति में दोनों बालकों के सामाजिक विकास में अंतर होना स्वाभाविक है।

4.परिवार: परिवार ही वह स्थान है जहां सबसे पहले बालक का सामाजीकरण होता है। परिवार के बड़े लोगों का जैसा आचरण और व्यवहार होता है बालक वैसा ही व्यवहार करने का प्रयत्न करता है।

5.पालन-पोषण की विधि: माता-पिता द्वारा बालक के पालन-पोषण की विधि उसके सामाजिक विकास पर बहुत गहरा प्रभाव डालती है।

6.सामाजिक व्यवस्था: सामाजिक व्यवस्था बालक के सामाजिक विकास को एक निश्चित रूप और दिशा प्रदान करती है। समाज के कार्य, आदर्श और प्रतिमान बालक के दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं।

7.विद्यालय: बालक के सामाजिक विकास के दृष्टिकोण से परिवार के बाद विद्यालय का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है।

8.शिक्षक: बालक के सामाजिक विकास पर शिक्षक का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि शिक्षक शिष्ट, शांत और सहयोगी है तो उसके छात्र भी उसी के समान व्यवहार करते हैं। इसके विपरीत यदि शिक्षक क्रोधी, अशिष्ट और असहयोगी है तो उसके विद्यार्थी भी उसके समान बन जाते हैं।

9.खेलकूद: बालक के सामाजिक विकास में खेलकूद का विशेष स्थान है। खेल द्वारा ही वह अपनी सामाजिक प्रवृत्तियों और सामाजिक व्यवहार का प्रदर्शन करता है।

10.समूह या टोली: समूह या टोली के सदस्य के रूप में बालक इतना व्यवहार कुशल हो जाता है कि समाज में प्रवेश करने के बाद उसे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता है।

11.अन्य कारक: बालक के सामाजिक विकास को प्रभावित करने वाले अन्य महत्वपूर्ण कारक हैं— संस्कृति, कैम्प-जीवन, रेडियो, सिनेमा, समाचार पत्र, पत्रिकाएं आदि।

किशोरों से समाज की कौन सी अपेक्षाएं अच्छी हैं और कौन सी बुरी, इसे भी महत्व देने की आवश्यकता है। समाज की कौन सी अपेक्षाएं पूर्ति के योग्य हैं और कौन सी अपेक्षाएं उपेक्षा के योग्य हैं, यह भी विचारणीय है। इसे किशोरों पर थोपा नहीं जा सकता है। किशोरों की दृष्टि से यह एक उलझा प्रश्न है कि उसे किस अपेक्षा पर क्या प्रतिक्रिया देनी है। इसी मानसिक स्थिति के कारण भी उसका सही ढंग से समायोजन नहीं हो पाता है। इसलिए इस स्थिति पर भी विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि इसका संबंध किशोरों से है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गोयल, आभा (2014), मानव विज्ञान, प्वाइंटर पब्लिकेशन, जयपुर, प्रथम संस्करण।
2. शेखावत, समता (2005), किशोरावस्था, शिखा प्रकाशन, इंदौर, द्वितीय संस्करण।
3. बर्मन, गायत्री (2005), किशोरावस्था, शिवा प्रकाशन, इन्दौर, द्वितीय संस्करण।

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

संगीत शिक्षण के क्षेत्र में इलेक्ट्रॉनिक वाद्य यंत्रों का महत्व

1. सुरबाला, 2. प्रो. ज्योति शर्मा

1.शोध अध्येत्री - संगीत विभाग, साहु रामस्वरुप महिला महाविद्यालय, बरेली(महात्मा ज्योतिबा फुले रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली)
2. शोध निर्देशिका, संगीत विभाग, साहु रामस्वरुप महिला महाविद्यालय, बरेली

PP.N0- 07-10 **Received: 08.01.2026** **Accepted:20.01.2026** **Email: surbalavm@gmail.com**

सारांश: संगीत शिक्षण और अधिगम की प्रक्रिया में इलेक्ट्रॉनिक एवं वैज्ञानिक उपकरणों का समावेश समकालीन संगीत जगत का एक अत्यंत महत्वपूर्ण, दूरगामी और अनिवार्य पहलू बनता जा रहा है। आज के इस तीव्र गति से बदलते हुए तकनीकी युग में, जहाँ पारंपरिक कलाएँ और पद्धतियाँ नए आयामों से जुड़ रही हैं, संगीत शिक्षा के क्षेत्र में भी तकनीकी क्रांतियों ने एक नया भूचाल ला दिया है। सिंथेसाइज़र, सीडी (MIDI), इलेक्ट्रॉनिक की-बोर्ड, ड्रम मशीन, सैंपलर, डिजिटल स्वरमंडल और आधुनिक पैड्स जैसे अनेक अत्याधुनिक उपकरणों ने संगीत रचना, ध्वनि संयोजन और मंच प्रदर्शन के संपूर्ण स्वरूप को मौलिक रूप से रूपांतरित कर दिया है। ये उपकरण न केवल छात्रों को नए ध्वनि रंगों, सूक्ष्म स्वर-सूझबूझ और उन्नत ध्वनि संप्रेषण का पता लगाने में सक्षम बनाते हैं, बल्कि उन्हें अपनी आंतरिक रचनात्मकता को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने तथा विभिन्न संगीत शैलियों एवं फ्यूजन संगीत को सहजता से समझकर आत्मसात करने में भी अपूर्व सहायता प्रदान करते हैं।

"इलेक्ट्रॉनिक उपकरण" इस शोध संदर्भ में केवल साधारण यंत्रों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि यह उन समस्त आधुनिक वैज्ञानिक माप और डिजिटल उपकरणों को पुनर्निर्देशित करता है, जिनके माध्यम से संगीत शिक्षा के नवीनतम और विकासशील आयामों को अधिकाधिक प्रभावशीलता के साथ विद्यार्थियों तक पहुँचाया जा सके। इसके अंतर्गत यह आकलन किया जाता है कि विभिन्न औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षण संस्थानों में इन उपकरणों के निरंतर उपयोग से संगीत छात्र अपने रियाज, प्रायोगिक दक्षता और सैद्धांतिक ज्ञान में कहाँ तक और किस स्तर तक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इलेक्ट्रॉनिक और डिजिटल माध्यमों ने संगीत अधिगम को न केवल भूगोल और समय की सीमाओं से मुक्त किया है, बल्कि उन आकांक्षी विद्यार्थियों के लिए भी संगीत के द्वार खोल दिए हैं जो पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा के अंतर्गत प्रत्यक्ष रूप से लंबे समय तक प्रशिक्षण प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं।

यह शोध पत्र इस बात का भी गहन विश्लेषण करता है कि किस प्रकार वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से शास्त्रीय, उपशास्त्रीय और लोक संगीत की शिक्षा को अधिक प्रामाणिक, त्रुटिहीन और सुनियोजित बनाया जा सकता है। यद्यपि इन उपकरणों के प्रयोग से रियाज में निश्चितता, लय की पक्की समझ और समय की बचत जैसी अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, तथापि इनके अतिरेक से उत्पन्न होने वाली चुनौतियों- जैसे पारंपरिक वाद्ययंत्रों की उपेक्षा, मानवीय संवेदनाओं व गमक की सूक्ष्मता का हास, तथा कृत्रिम ध्वनियों पर अत्यधिक निर्भरता का भी गंभीर मूल्यांकन करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार, यह विस्तृत सारांश इस बात पर बल देता है कि संगीत शिक्षण में आधुनिक तकनीक का प्रयोग एक 'सहायक उपकरण' के रूप में होना चाहिए, न कि हमारी प्राचीन गुरु-शिष्य परंपरा और मौलिक शास्त्रीय धरोहर के 'विकल्प' के रूप में, ताकि तकनीक और परंपरा का एक सुसंस्कृत एवं संतुलित सह-अस्तित्व स्थापित किया जा सके।

कुंजीभूत शब्द : ललित कला, संगीत शिक्षण, इलेक्ट्रॉनिक उपकरण, वैज्ञानिक उपकरण, इलेक्ट्रोफोन / इलेक्ट्रॉनिक संगीत

प्रस्तावना- इलेक्ट्रॉनिक संगीत वाद्ययंत्र या इलेक्ट्रोफोन एक ऐसा संगीत वाद्ययंत्र है जो इलेक्ट्रॉनिक सकेट्री का उपयोग करके ध्वनि उत्पन्न करता है। ऐसा वाद्ययंत्र विद्युत, इलेक्ट्रॉनिक या डिजिटल ऑडियो सिग्नल आउटपुट करके ध्वनि उत्पन्न करता है जिसे अंततः एक पावर एम्पलीफायर में प्लग किया जाता है जो लाउडस्पीकर को चलाता है जिससे कलाकार और श्रोता द्वारा सुनी जाने वाली ध्वनि उत्पन्न होती है। संगीत शिक्षण केन्द्रों पर इन इलेक्ट्रॉनिक उपकरण में ध्वनि को नियंत्रित करने के लिए विशेष रूप से एक इंटरफेस शामिल होता है क्योंकि प्रत्येक नोट की पिच, आवृत्ति या अवधि को समायोजित करके एक सामान्य उपयोगकर्ता इंटरफेस संगीत कीबोर्ड है, जो एक ध्वनि पियानो पर कीबोर्ड के समान कार्य करता है। इलेक्ट्रॉनिक संगीत उपकरणों से संगीत को प्रयोग और शिक्षण दोनों के लिए एक बहुत बड़ा सहारा मिल रहा है। एक ओर जहाँ कलाकार को स्थिर सुर और ताल में त्रुटिहीन प्रस्तुति की ओर प्रेरित करते हैं कठिन आरम्भिक समय में संगीत के विद्यार्थी को सुर लय आदि की समझ विकसित करने में बहुत सहायता करता है क्योंकि संसार प्रगतिशील है तथा प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षेत्र प्रगति कर रही है। इसी प्रकार हमारा संगीत का संसार भी प्राचीन काल से अब तक प्रगति के पथ पर निरंतर अग्रसर है संगीत शिक्षण में यह बात काफी हद तक सिद्ध होती है। जिस प्रकार देखा जाये तो प्राचीन काल में संगीत वैदिक शिक्षा के अंतर्गत होता था उसके बाद संगीत में गुरु-शिष्य परम्परा का आविर्भाव हुआ तथा वहीं आज आधुनिक संगीत शिक्षण वैज्ञानिक उपकरणों से सुसज्जित होकर उभर रहा है और काफी हद तक यदि हम देखें तो संगीत शिक्षण की जटिलताओं को दूर करने में वैज्ञानिक उपकरणों ने काफी अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जिनके माध्यम से संगीत शिक्षण सरल व संगीत के विद्यार्थियों के लिए एक सुगम अवसर का माध्यम बना है।

आज हम देखते हैं कि संगीत आम जनमानस की पहुँच में है तथा संगीत को आज विद्यालयों व कॉलेजों में एक विषय के रूप में स्थान देकर उसे प्रगति के पथ पर और बढ़ाया जा रहा है। तो इसमें हम कहीं नहीं वैज्ञानिक उपकरणों को देख सकते हैं। संगीत शिक्षण में इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों के माध्यम से आधुनिक युग में संगीत के क्रियात्मक स्वरूप को आगे बढ़ाने में ध्वनि विस्तारकों का योगदान सराहनीय रहा है क्योंकि इन यंत्रों से एक ओर कलाकारों की ध्वनि की तीव्रता को बढ़ाते देखा जा सकता है। वहीं दूसरी ओर उनकी ध्वनि के प्रस्तार क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए उसे एक सही आधार प्रदान कराते हैं, और वाद्यों तथा कलाकारों की ध्वनि में माधुर्य एवं स्पष्टता का सृजन भी होता है।

भारतीय संगीत से सम्बंधित शायद ही ऐसा कोई कलाकार होगा जो इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्रों से अपरिचित हो। वर्तमान समय में विद्यार्थी से लेकर अनेक बड़े-बड़े कलाकार भी इन वाद्ययंत्रों का प्रयोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कर रहे हैं। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इलेक्ट्रॉनिक का हिन्दुस्तानी संगीत में आगमन हुआ। भारत में इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्रों को प्रारम्भ करने का श्रेय श्री राजनारायण दम्पति को जाता है जो स्वयं एक उच्च कोटि के बाँसुरी वादक है। जिनके अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप ही इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्रों का प्रयोग हमारे शास्त्रीय संगीत में किया जा रहा है।

इलेक्ट्रॉनिक उपकरण छात्रों को विभिन्न संगीत शैलियों जैसे EDM, हिप-हॉप और रॉक में उपयोग किए जाने वाले ध्वनियों एवं तकनीकों को सीखने में मदद करते हैं। इसके साथ ही साथ इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के साथ प्रदर्शन करना छात्रों को एक अलग प्रकार की चुनौती देता है, जिसमें उन्हें लय का समन्वय और रचनात्मकता का उपयोग करना रहता है क्योंकि इलेक्ट्रॉनिक उपकरण के साथ में विद्यार्थी को रियाज करने जहाँ अधिक सुविधा होती है वहीं दूसरी ओर इन यंत्रों के साथ विशेष रूप से बंध कर रियाज करना होता है कि कब ताल में कहाँ खाली आ रहा है तो वहीं ताली है इसका सटीक याद रखना पड़ता है। इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों से संगीत कहीं तक थोड़ा सरल और जनमानस तक आसानी से पहुँच पा रहा है क्योंकि प्रत्येक विद्यार्थी गुरु-शिष्य परम्परा में नहीं सीख सकता है। तो शिक्षण केन्द्रों पर जो गुरु द्वारा सिखाया जाता है उसको शिष्य घर जाकर रियाज कर सकता है।

2. इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्रों के प्रकार- तालोमीटर, इलेक्ट्रॉनिक तानपुरा, इलेक्ट्रॉनिक तबला, इलेक्ट्रॉनिक वीणा, सुनावदराला स्वरूपणी, डिजिटल स्वरमंडल, बास संथेसाइज़र, ड्रम मशीन, इलेक्ट्रॉनिक सितार, इलेक्ट्रॉनिक गिटार, इलेक्ट्रॉनिक की-बोर्ड, डिजिटल पियानो, इलेक्ट्रॉनिक हारमोनियम, पैड सिंथेसाइज़र, मिडी (MIDI) कंट्रोलर, इलेक्ट्रॉनिक बासुरी (EWI) आदि।

- **इलेक्ट्रॉनिक तालपेटी:** यह इलेक्ट्रॉनिक तानपुरे जैसी होती है, जिसमें कई तालों के ठेके होते हैं। इसके माध्यम से आराम से सरल ढंग से रियाज किया जा सकता है। इसमें लगभग 35 ताल कर्नाटक के और कुछ हिन्दुस्तानी संगीत के हैं। आज व्यस्तता भरे जीवन में इन उपकरणों द्वारा समय की थोड़ी बचत के साथ-साथ विद्यार्थी को रियाज में थोड़ी सरलता भी मिलती है। आज वैज्ञानिक इलेक्ट्रॉनिक और संचार माध्यमों का युग है जिसके कारण संगीत का सर्वाधिक प्रचार वि प्रसार हो रहा है। ग्रामोफोन सॉलण्डर फोन के ज़रिए पुराने नामचीन प्रसिद्ध घरानों के कला प्रदर्शन को सुरक्षित रखकर विद्यार्थी जब चाहे सुन सकता है।
- **इलेक्ट्रॉनिक तानपुरा:** भारतीय वाद्य के विकास क्रम में विद्युत् उपकरणों के द्वारा बनाये इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्र जो 20वीं एवं 21वीं सदी की देन हैं। ये वाद्य मुख्य रूप से संगत करने वाले वाद्य का आधुनिक यांत्रिक रूप है। सुविधा एवं आवश्यकता के कारण यह संगीत के क्षेत्र में लोकप्रिय हो गये हैं क्योंकि इनका आकार बहुत छोटा होता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सुविधा रहती है और संगीत का विद्यार्थी अपनी सुविधा से इनका प्रयोग कर सकता है।
- **संथेसाइज़र:** यह एक विदेशी वाद्य है जिसने आधुनिक संगीत में क्रान्ति ला दी है। इस पर 72 स्वर स्थान एक साथ सुने जा सके हैं। देखने में यह पियानो की तरह है। इसके द्वारा विभिन्न प्रकार की ध्वनियों तथा विभिन्न वाद्ययंत्रों की ध्वनियाँ निकाली जा सकती हैं। जो आवाज हम सोचते हैं वही आवाज इस पर हम निकाल सकते हैं। इस पर रिदम बॉक्स भी लगा रहता है। जिसके द्वारा विभिन्न तालों को विभिन्न लयों में सेट किया जा सकता है।
- मेट्रोनोम: यह एक निश्चित गति से टिक टिक की ध्वनि करता हुआ चलता है, जिसकी गति को इच्छानुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। इसका प्रयोग लय को पक्का करने में किया जाता है। विद्यार्थियों के प्रतिदिन के अभ्यास के लिए यह बहुत उपयोगी यंत्र है। इसका प्रयोग गायन, वादन तथा नृत्य तीनों के लिए किया जाता है।

अतिरिक्त आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्र:

- **इलेक्ट्रॉनिक सितार:** पारंपरिक सितार के शास्त्रीय नाद को डिजिटल पिकअप और एम्पलीफिकेशन के माध्यम से संयोजित करने वाला आधुनिक वाद्य।
- **इलेक्ट्रॉनिक गिटार:** आधुनिक संगीत रचना, फ्यूजन और कॉर्ट्स के अभ्यास में सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाला तंत्री वाद्य।
- **इलेक्ट्रॉनिक की-बोर्ड और डिजिटल पियानो:** बहु-स्वर क्षमता और विभिन्न टोन मॉड्यूलेशन के साथ संगीत शिक्षण की आधारशिला।

- **इलेक्ट्रॉनिक हारमोनियम:** पारंपरिक हारमोनियम का पोर्टेबल और स्थिर स्वर प्रदान करने वाला डिजिटल संस्करण।
- **पैड सिंथेसाइज़र और मिडी (MIDI) कंट्रोलर:** डिजिटल ऑडियो वर्कस्टेशन (DAW) के साथ जुड़कर संगीत संयोजन और रिदम निर्माण में सहायक।

पश्चिमी दुनिया में संगीत शिक्षा पर प्रौद्योगिकी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। हालाँकि भारतीय संगीत पर इसका प्रभाव अभी महसूस किया जा रहा है। संगीत शिक्षा के लिए इलेक्ट्रॉनिक सहायता कई वर्षों से पश्चिमी शैक्षिक प्रक्रिया का एक प्रमुख घटक रही है। हालाँकि भारत में उच्च प्रौद्योगिकी का अनुप्रयोग हाल ही में शुरू हुआ है। संगीत और संगीत शिक्षा के क्षेत्र में इलेक्ट्रॉनिक्स के प्रसार के लिए डेस्कटॉप प्रकाशन इलेक्ट्रॉनिक रूप से सहायता प्राप्त शिक्षा अत्यंत उपयोगी है।

3. वैज्ञानिक उपकरणों का संगीत पर नकारात्मक प्रभाव- प्रत्येक आविष्कार लाभ के साथ कुछ नई समस्याओं और चुनौतियों को भी जन्म देता है। संगीत शिक्षण में वैज्ञानिक उपकरणों के उपयोग से संगीत पर कुछ नकारात्मक प्रभाव भी देखे गए हैं।

पारंपरिक वाद्य यंत्रों का कम उपयोग और उनका संकट:

- पारंपरिक वादकों और कलाकारों की आजीविका पर संकट: जहाँ एक ओर इलेक्ट्रॉनिक मशीनें और प्री-प्रोग्राम्ड रिदम बॉक्स एक ही व्यक्ति को कई वाद्ययंत्रों का प्रभाव अकेले ही उत्पन्न करने में सक्षम बनाते हैं, वहीं दूसरी ओर संगत करने वाले पारंपरिक वादकों (विशेषकर सारंगी वादक, पखावजी और तबला वादकों) की माँग में भारी गिरावट आई है। आर्थिक तंगी और कला के प्रति घटते प्रोत्साहन के कारण युवा पीढ़ी अब इन पारंपरिक वाद्य यंत्रों को सीखने और इन्हें अपना करियर बनाने से कतरा रही है, जिससे पारंपरिक वाद्य वादकों की संख्या तेजी से घट रही है।
- पारंपरिक वाद्य शैलियों और घरानों की विरासत का विलोप: प्रत्येक पारंपरिक वाद्ययंत्र की अपनी विशिष्ट शैली, अंग और घराने की विशेषता होती है (जैसे पखावज की बाजी या सारंगी की संगति की अनोखी मिठास)। जब शिक्षण संस्थाओं और मंचों पर इन जीवित वाद्ययंत्रों के स्थान पर इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का प्रयोग होने लगता है, तो वे विशेष तकनीकें और घरानेदार शैलियाँ धीरे-धीरे विलिप्ति की कगार पर पहुँच जाती हैं।
- आकाशवाणी, दूरदर्शन और मंच प्रदर्शनों में कृत्रिमता: पूर्वसमय में आकाशवाणी, दूरदर्शन तथा सार्वजनिक मंचों पर जीवंत वाद्य संगति का बोलबाला था, जहाँ कलाकार और वादक आमने-सामने बैठकर तात्कालिक संवाद व जुगलबंदी करते थे। वर्तमान समय में स्टूडियो रिकॉर्डिंग और लाइव कॉन्सर्ट्स में इलेक्ट्रॉनिक पैड्स और प्री-सेट ट्रैक्स के अत्यधिक चलन के कारण वह जीवंत सजीवता गायब हो चुकी है। श्रोता और कलाकार के मध्य का वह गहरा आमीय भावनात्मक जुड़ाव भी इन मशीनी उपकरणों के कारण धूमिल पड़ गया है।
- संरक्षण और संवर्द्धन का अभाव: पारंपरिक वाद्य यंत्रों के निर्माण और उनकी देखरेख (जैसे खाल मढ़ना, घोड़ी मिलाना, तारों को साधना) से जुड़ी पारंपरिक शॉप कला भी अब दम तोड़ रही है। जब छात्र और शिक्षण संस्थान डिजिटल विकल्पों को प्राथमिकता देते हैं, तो हमारी प्राचीन वाद्य परंपराएँ उपेक्षा का शिकार होकर इतिहास के पन्नों में सिमट कर रह जाती हैं।

संगीत की गुणवत्ता और मौलिकता में ह्रास:

- प्राकृतिक ध्वनि और सजीव संवेदनाओं का अभाव: इलेक्ट्रॉनिक वाद्य यंत्रों द्वारा उत्पन्न की जाने वाली ध्वनियाँ यांत्रिक (Mechanical) और कृत्रिम होती हैं। पारंपरिक वाद्य यंत्रों (जैसे सारंगी, पखावज, दिलरुबा, सितार आदि) को बजाते समय कलाकार के हाथों की उंगलियों का स्पर्श, साँसों का नियंत्रण और जो सूक्ष्म भावनात्मक स्पंदन उत्पन्न होता है, वह डिजिटल प्रीसेट्स या संथेसाइज़र में पूरी तरह नदारद रहता है। मशीन कभी भी मानवीय हृदय की वास्तविक वेदना, उल्लास और सूक्ष्म संवेदनाओं की नकल नहीं कर सकती।
- स्वर की सूक्ष्मता (श्रुति और गमक) का ह्रास: भारतीय शास्त्रीय संगीत की मूल आत्मा उसकी सूक्ष्म श्रुतियों, गमक, मींड और आंदोलन में निहित है। इलेक्ट्रॉनिक की-बोर्ड और डिजिटल संथेसाइज़र एक निश्चित और कठोर आवृत्ति (Fixed Pitch / Equal Temperament) पर कार्य करते हैं, जिसके कारण भारतीय संगीत की विशेषता 'दो स्वरों के मध्य की दूरी' या आन्दोलित स्वरों का प्रामाणिक सौंदर्य नष्ट हो जाता है। छात्र इन यंत्रों पर रियाज करते-करते सुरीलेपन के उस सूक्ष्म स्तर को खो देते हैं जो पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा में तानपुरे के साथ साधना करने से प्राप्त होता है।
- रचनात्मकता का सीमित होना और कृत्रिमता पर अत्यधिक निर्भरता: वैज्ञानिक उपकरणों के अत्यधिक प्रयोग ने विद्यार्थियों और नए रचनाकारों को आलसी बना दिया है। वे अपनी मौलिक कल्पना शक्ति और रियाज के बल पर नए स्वर सृजित करने के बजाय इन मशीनों में पहले से फीड किए गए रिदम पैटर्न्स और रेडीमेड लूप्स पर पूरी तरह निर्भर हो जाते हैं। इससे संगीतकारों की रचनात्मक क्षमता सीमित हो जाती है और सभी प्रस्तुतियाँ एक ही साँचे में ढली हुई, बेजान और एकरंगी लगने लगती हैं।
- श्रोता वर्ग की रसास्वादन क्षमता पर प्रभाव: जब संगीत पूरी तरह से मशीनीकृत और लाउडस्पीकर आधारित हो जाता है, तो श्रोताओं और कलाकारों के बीच का वह जीवंत संवाद व आत्मीय जुड़ाव समाप्त हो जाता है जो पारंपरिक बैठकों या सम्मेलनों में देखने को मिलता है। डिजिटल संपीड़न और कृत्रिम इको-रिवर्ब के कारण मूल स्वर की शुद्धता विकृत हो जाती है, जिससे आने वाली पीढ़ी संगीत के वास्तविक और पवित्र शास्त्रीय स्वरूप से दूर होती जा रही है।

हालाँकि दूसरी तरफ संगीत शिक्षण पर इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का सकारात्मक प्रभाव भी दिखता है क्योंकि वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग संगीत को अधिक सुलभ और व्यापक बनाना भी दिखता है। इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का उपयोग संगीत को रिकॉर्ड करने और प्रसारित करने में मदद करता है जिसके माध्यम से अधिक लोग संगीत सुन सकते हैं। इसके अतिरिक्त इलेक्ट्रॉनिक उपयोग संगीतकारों को नए प्रकार के संगीत बनाने में भी सहायता करता है।

निष्कर्ष- संगीत शिक्षण के क्षेत्र में इलेक्ट्रॉनिक एवं वैज्ञानिक उपकरणों का समावेश एक द्वंद्वात्मक वास्तविकता है, जो एक ओर असीम संभावनाओं के द्वार खोलती है, तो वहीं दूसरी ओर पारंपरिक मान्यताओं के समक्ष गंभीर चुनौतियाँ भी प्रस्तुत करती है। प्रस्तुत शोध अध्ययन और समग्र विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक युग में तकनीक और संगीत का सह-अस्तित्व अनिवार्य हो चुका है। तथापि, इस सह-अस्तित्व की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम तकनीक का उपयोग किस विवेक और सीमा तक करते हैं।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक संगीत की शिक्षा पद्धति में अभूतपूर्व परिवर्तन आए हैं। वैदिक काल के गुरुकुलों से प्रारंभ हुई यह यात्रा गुरु-शिष्य परंपरा के स्वर्णयुग से गुजरती हुई आज डिजिटल और इलेक्ट्रॉनिक स्टूडियो तक आ पहुँचती है। इस पूरी यात्रा में इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों (जैसे संथेसाइज़र, इलेक्ट्रॉनिक तानपुरा, तालपेटी, मेट्रोनोम आदि) ने संगीत अधिगम को न केवल सुगम बनाया, बल्कि उन विद्यार्थियों के लिए भी संगीत के मार्ग प्रशस्त किए हैं जो किन्हीं कारणों से पारंपरिक गुरुकुल परंपरा का नियमित लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। आज व्यस्त जीवनशैली में रियाज के समय का सदुपयोग करने, लय की सूक्ष्म गहराइयों को समझने और विभिन्न बाह्य ध्वनियों का संकलन करने में ये यंत्र वरदान साबित हुए हैं।

परन्तु, इस सिक्के का दूसरा पहलू उतना ही चिंताजनक है। अत्यधिक तकनीकी निर्भरता ने हमारे प्राचीन और समृद्ध पारंपरिक वाद्य यंत्रों के अस्तित्व के समक्ष संकट खड़ा कर दिया है। सारंगी, पखावज, दिलरुबा और पारंपरिक तानपुरे जैसे वाद्य आज लुप्तप्राय स्थिति की ओर अग्रसर हैं, क्योंकि युवा पीढ़ी और छात्र वर्ग कृत्रिम ध्वनियों की सुगमता की ओर अधिक आकर्षित हो रहा है। इसके अतिरिक्त, इलेक्ट्रॉनिक वाद्य यंत्रों की यांत्रिक और स्थिर आवृत्ति मानवीय स्वर और पारंपरिक वाद्यों की उस सूक्ष्म लोच, गमक और भाव-प्रवणता की बराबरी नहीं कर सकती, जो सीधे तौर पर आत्मक संवाद स्थापित करती है। संगीत केवल कुछ नोटों का गणितीय संयोजन नहीं है, बल्कि यह मानवीय भावनाओं का उच्चतम प्रकटीकरण है, जिसे पूर्णतः कृत्रिम एल्गोरिदम या संथेसाइज़र द्वारा प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता।

अतः आज के संगीत शिक्षकों, शोधकर्ताओं और विद्यार्थियों का यह नैतिक एवं अकादमिक उत्तरदायित्व बन जाता है कि वे संतुलन का मार्ग अपनाएँ। हमें इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों को अपने सीखने और रियाज का 'सहायक उपकरण' मानना चाहिए, न कि उसका 'विकल्प'। गुरु-शिष्य परंपरा का आदर करते हुए, घरानों की गायकी की मूल शैली, बंदिशों की शुद्धता और पारंपरिक वाद्ययंत्रों की तासीर को बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है। संगीत की शिक्षा में आधुनिक तकनीक का प्रयोग करते समय यह सावधानी बरतना अनिवार्य है कि हमारी मौलिक शास्त्रीय धरोहर धूमिल न पड़े।

भविष्य के संगीत शिक्षण में यह आवश्यक है कि शैक्षणिक संस्थान तकनीकी प्रशिक्षण के साथ-साथ पारंपरिक वाद्ययंत्रों के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए भी विशेष पाठ्यक्रम संचालित करें। विद्यार्थियों को यह समझाया जाना चाहिए कि मेट्रोनोम या इलेक्ट्रॉनिक तालपेटी लय को साधने का साधन मात्र है, किंतु ताल की सच्ची रूह और सौंदर्य का अनुभव पारंपरिक वाद्य संगति के साथ ही संभव है। यदि हम तकनीक के सकारात्मक पक्षों का स्वागत करते हुए अपनी प्राचीन सांस्कृतिक और संगीतिकीय जड़ों से जुड़े रहें, तो संगीत शिक्षण का भविष्य न केवल उज्ज्वल होगा, बल्कि वह अपनी मौलिक गरिमा और पवित्रता को भी अक्षुण रख सकेगा। यही इस शोध का सार और अंतिम निष्कर्ष है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. पीयूष चौबे - संगीत एवं सूचना प्रौद्योगिकी
2. Thomas E. Rudolph - Teaching Music with Technology
3. S. Mex Ruthanann & Edward P. Thomsen - Music Education Technology in Practice
4. डॉ. मनीषा शर्मा - संगीत शिक्षण और आधुनिक तकनीक
5. डॉ. सरिता सिंह संगति और संचार माध्यम
6. लालमणि मिश्र - भारतीय वाद्ययंत्रों का विकास और इलेक्ट्रॉनिक युग
7. डॉ. विकास कुमार ओझा 20वीं शताब्दी में भारतीय संगीत और तकनीकी परिवर्तन
8. डॉ. स्वतंत्र शर्मा भारतीय संगीत में वैज्ञानिक उपकरण व तकनीक
9. डॉ. आभा चौरसिया संगीत शिक्षण के बदलते आयाम

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

वाल्मीकि रामायण में पर्यावरण विज्ञान

डॉ० क्षेमेन्द्र भारद्वाज
पीएचडी, हिंदी साहित्य
मुरारपट्टी, लालगंज, बलिया (उ०प्र०)

PP.N0- 11-13 **Received: 08.01.2026** **Accepted:20.01.2026** **Email: pathak17ksh@gmail.com**

सारांश: आदिकवि महर्षि वाल्मीकि प्रणीत 'रामायण' न केवल आर्य-संस्कृति और कल्पवृक्ष-तुल्य जीवन-मूल्यों का अमर ध्वजवाहक है, अपितु यह वैश्विक पर्यावरण-विज्ञान तथा पारिस्थितिक तंत्र के गूढ़तम सिद्धांतों को प्रकट करने वाला अति-विशिष्ट शास्त्रीय ग्रंथ भी है। प्रस्तुत शोध-पत्र में वाल्मीकि-रामायण में अंतर्निहित पर्यावरण-विज्ञान के मूल घटकों—यथा स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल एवं जैवमण्डल—की अन्योन्याश्रयिता तथा सह-अस्तित्व की दार्शनिक एवं वैज्ञानिक अवधारणा का सांगोपांग अनुशीलन किया गया है। यह अध्ययन सिद्ध करता है कि आधुनिक युगीन अनियंत्रित औद्योगिक होड़ तथा प्रकृति-दोहन जन्य संकटों का स्थायी समाधान रामायण में प्रतिपादित प्राकृतिक तादात्म्य एवं पारिस्थितिक संतुलन के सिद्धांतों में ही निहित है।

कुंजीभूत शब्द : वाल्मीकि-रामायण, पर्यावरण-विज्ञान, पारिस्थितिक संतुलन, स्थलमण्डल, जलमण्डल, जैवमण्डल, अन्योन्याश्रयिता

प्रस्तावना - समकालीन मानव सभ्यता जिस तीव्र गति से भौतिक सुख-सुविधाओं की अंधी दौड़ में अग्रसर है, उसी अनुपात में प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण दोहन बढ़ा है। इस अति-दोहन ने संपूर्ण भू-मण्डल को पर्यावरण-विनाश के मुहाने पर लाकर खड़ा कर दिया है। वैदिक एवं पौराणिक परंपरा में प्रकृति और मनुष्य के मध्य किसी भी प्रकार का विभाजन स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु दोनों को एक ही चेतन तत्त्व की अभिव्यक्ति माना गया है।

वाल्मीकि-रामायण में पर्यावरण-विज्ञान केवल सिद्धांतों के रूप में नहीं, वरन आचार-संहिता और जीवन-शैली के रूप में परिलक्षित होता है। रामायण की समूची कथा-यात्रा वनों, पर्वतों, नदियों, पशु-पक्षियों तथा वानस्पतिक साम्राज्य के सान्निध्य में घटित होती है। इसमें प्रकृति-घटक मात्र पृष्ठभूमि के रूप में विद्यमान नहीं हैं, अपितु वे कथा के गतिशील चरित्र तथा मानव-चेतना के सहचर के रूप में उभरे हैं। रामायण हमें यह बोध कराती है कि प्रकृति के प्रत्येक अवयव का सम्यक परिज्ञान तथा उसका संरक्षण ही मानव जाति के दीर्घकालिक अस्तित्व की मूल कुंजी है।

स्थलमण्डल एवं भू-भौतिकी- स्थलमण्डल के अंतर्गत समस्त भू-भाग, मृदा, पर्वत-शृंखलाएँ, कंदराएँ, कृषि तथा विविध भौगोलिक आकृतियाँ समाहित हैं। वाल्मीकि-रामायण में चित्रकूट, किष्किन्धा, गन्धमादन, ऋष्यमूक, विन्ध्याचल एवं महेंद्र पर्वतों का विस्तृत तथा सूक्ष्म वैज्ञानिक वर्णन उपलब्ध होता है।

पर्वतीय पारिस्थितिकी एवं वानस्पतिक तादात्म्य- अयोध्याकाण्ड के ९४वें सर्ग में महर्षि वाल्मीकि ने चित्रकूट पर्वत का जो वर्णन किया है, वह भू-विज्ञान (Geology) तथा वनस्पति-शास्त्र (Botany) का अद्भुत मिश्रण है। श्रीराम जनकनंदिनी सीता से चित्रकूट के रमणीय स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि निसर्ग का यह अलौकिक सान्निध्य राज्य-वियोग के अगाध दुःख और स्वजनों के बिछोहजन्य कष्ट को भी विस्मृत कर देता है:

न राज्याभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः। मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ (अयोध्याकाण्ड, सर्ग ९४, श्लोक ३)

यहाँ श्रीराम चित्रकूट में पाई जाने वाली रजतमयी, स्फटिकमयी तथा केतकी-कुसुम-वर्ण धातुओं और खनिजों का उल्लेख करते हैं। इसके साथ ही, वे वहाँ निवास करने वाले हिंसक एवं अहिंसक जीवों के पारस्परिक वैर-भाव से रहित आचरण का वर्णन करते हैं। वे आम्र, जंबू, असन, लोध्र, प्रियंगु, पनस, धव, अंकोल, तिनिश, बिल्व, तिंदुक, वंश, कश्मीरी, अरिष्ट, वरण, मधूक, तिलक, बदरी, आमलक, कदंब, वेत्र तथा दाड़िम आदि अनगिनत वनस्पतियों का परिगणन कराते हैं, जो उनके गहन वनस्पति-भौगोलिक ज्ञान को सिद्ध करता है।

भू-संरक्षण एवं पर्वतीय अस्तित्व की रक्षा:बालकाण्ड में वर्णित समुद्र-मंथन का आख्यान पर्वतीय पारिस्थितिकी तथा भू-संरक्षण (Mountain Conservation) के वैश्विक महत्त्व को उजागर करता है। जब मंधराचल पर्वत का मूलाधार क्षीण होने लगा और वह रसातल में धंसने लगा, तब समस्त देवगण एवं गंधर्व उसके उद्धार हेतु परमपुरुष की स्तुति में लीन हो गए:

ततो देवासुराः सर्वे ममन्थू रघुनन्दन। प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतोत्तमः ॥
ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम्। त्वं गतिः सर्वभूतानां विशेषेण दिवौकसाम् ॥
पालयास्मान् महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि। इतिश्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः ॥

(बालकाण्ड, सर्ग ४५, श्लोक २७-२९)

यह प्रसंग यह दार्शनिक एवं वैज्ञानिक संदेश देता है कि पर्वतों का धंसना या क्षरण होना संपूर्ण प्राणिजगत के अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न करता है; अतः पर्वतों का संरक्षण समस्त जीवों की रक्षा हेतु अनिवार्य है।

जलमण्डल एवं नदी-पारिस्थितिकी- जल ही जीवसृष्टि का मूलाधार है। रामायण में गंगा, यमुना, तमसा, सरयू, वरदा, गोदावरी, पम्पा सरोवर तथा अगाध महासागरों का अत्यंत पावन एवं वैज्ञानिक वर्णन प्राप्त होता है।

जल-स्रोतों की पावनता एवं संरक्षण-चेतना: रामायणकालीन समाज में जल-स्रोतों को मात्र निर्जीव भौतिक पदार्थ न मानकर उन्हें 'लोक-माता' एवं चेतना-युक्त देवत्व का स्वरूप स्वीकार किया गया था। विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को गंगा तथा सरयू के पावन संगम स्थल पर ले जाकर उन्हें सश्रद्ध प्रणाम करने का उपदेश देते हैं।

सुमित्रा महारानी कौशल्या को सांत्वना देते हुए प्राकृतिक घटकों की रक्षा-शक्ति पर विश्वास व्यक्त करती हैं कि नदियाँ, ऋतुएँ और मास श्रीराम के वन-मार्ग को सुगम और सुरक्षित बनाएँगे। इसी प्रकार, गंगा पार करते समय सीता जी श्रीराम की सकुशल वापसी हेतु गंगा की स्तुति करती हैं:

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः। निदेशं पारयित्वेमं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥ - (अयोध्याकाण्ड, सर्ग ५२, श्लोक ८३)

यह सांस्कृतिक चेतना जल-निकायों को दूषित होने से बचाने का सबसे प्रभावी मनोवैज्ञानिक और नैतिक मार्ग प्रस्तुत करती है।

वायुमण्डल एवं प्राण-ऊर्जा चक्र- समस्त प्राणिजगत के श्वसन एवं जीवन-संचालन के लिए वायुमण्डल की विशुद्धता प्राथमिक आवश्यकता है। वाल्मीकि-रामायण में वायुमण्डल और पवन-देव को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्रदान की गई है।

प्राणवायु के मूर्तिमंत प्रतीक: पवनपुत्र हनुमान- संपूर्ण रामायण की कथा-संरचना में पवनपुत्र हनुमान जी की भूमिका केंद्रीय है। वे मात्र एक पात्र नहीं, अपितु असीम प्राणवायु (ऑक्सीजन) के बल, गतिशीलता और ऊर्जा के प्रतीक हैं। किष्किन्धाकाण्ड में वायु की अपरिमित शक्ति और वायुमण्डलीय वेग का वर्णन करते हुए कहा गया है:

अरुजत्पर्वताग्राणि हुताशनसखोर्धनलः। बलवानप्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः ॥

तस्याहं द्रुतवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः। मारूतस्यौरसः पुत्रः प्लवने नास्ति मत्समः ॥

(किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ६७, श्लोक ९-१०)

रामायण में स्थान-स्थान पर वायु, अग्नि, वर्षा एवं पर्जन्य (इंद्र) की स्तुतियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि वायुमण्डल की निर्मलता और मौसमी चक्र (Atmospheric Cycle) का संतुलन मानव जाति के स्थायित्व के लिए अपरिहार्य है।

वाल्मीकि-रामायण में वानस्पतिक एवं औषधीय पारिस्थितिकी: रामायण में वानस्पतिक जगत् का विस्तृत और सूक्ष्म वर्गीकरण उपलब्ध है। महर्षि वाल्मीकि ने वनों को केवल वृक्षों का समूह नहीं माना, अपितु उन्हें औषधीय गुणों और जैव-ऊर्जा का केंद्र स्वीकार किया है।

दिव्य औषधि एवं पादप-विज्ञान- युद्धकाण्ड में जब लक्ष्मण मेघनाद के बाण से मूर्छित होते हैं, तब सुषेण वैद्य के परामर्श पर हनुमान जी द्रोणगिरि पर्वत से चार विशिष्ट दिव्य औषधियाँ लाने जाते हैं: विशाल्यकरणी (घाव भरने वाली एवं बाण निकालने वाली), सावर्ण्यकरणी (त्वचा के प्राकृतिक वर्ण को पुनः स्थापित करने वाली), संजीवकरणी (चेतना और प्राण वायु का संचार करने वाली), सन्धानी (अस्थियों एवं ऊतकों को जोड़ने वाली)

यह प्रसंग रामायणकालीन समाज के अति-उन्नत वानस्पतिक ज्ञान एवं पादप-आधारित चिकित्सा-प्रणाली का अकाट्य प्रमाण है।

अशोक वाटिका एवं ऋतु-संतुलन- सुन्दरकाण्ड में अशोक वाटिका का वर्णन करते समय वाल्मीकि जी लिखते हैं कि वहाँ के फल-फूल सभी ऋतुओं में पल्लवित रहते थे। यह इस बात का सूचक है कि प्राचीन काल में ऐसी जैव-प्रौद्योगिकी या प्राकृतिक स्थितियाँ विद्यमान थीं, जहाँ वृक्ष वर्ष भर फल-फूल प्रदान करते थे तथा वातावरण को निरंतर ऑक्सीजन से परिपूर्ण रखते थे।

वातावरण-शुद्धि एवं यज्ञीय पर्यावरण-विज्ञान- वाल्मीकि-रामायण में यज्ञीय संस्कृति का गहरा संबंध पर्यावरण-शुद्धि से दर्शाया गया है। ऋषियों-मुनियों द्वारा दंडकारण्य तथा आश्रमों में किए जाने वाले यज्ञ मात्र धार्मिक अनुष्ठान नहीं थे, अपितु वे वायुमण्डल के शोधन के वैज्ञानिक माध्यम थे।

यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली समिधाएँ (अपामार्ग, पीपल, शमी), घृत तथा औषधीय सामग्रियाँ जब अग्नि के संपर्क में आती हैं, तो वे वायुमण्डल में उपस्थित सूक्ष्म हानिकारक जीवाणुओं का नाश करती हैं और वर्षा चक्र को नियमित करती हैं। राक्षसों (ताड़का, सुबाहु, मारीच आदि) द्वारा यज्ञों में विघ्न डालना वास्तव में उस युग के 'पर्यावरणीय प्रदूषण' और 'पारिस्थितिक विनाश' का ही रूप था, जिसका उन्मूलन श्रीराम ने किया।

जैवमण्डल एवं प्राणी-वानस्पतिक सह-अस्तित्व- जैवमण्डल के अंतर्गत मनुष्य, वन्यजीव एवं वानस्पतिक साम्राज्य का परस्पर सामंजस्य ही पारिस्थितिक संतुलन निर्मित करता है। जहाँ यह सह-अस्तित्व है, वहाँ सुख-समृद्धि है; और जहाँ असंतुलन है, वहाँ प्राकृतिक आपदाएँ निश्चित हैं।

मानव एवं मानवेतर प्राणियों का सौहार्द-

जटायु का धर्म-युद्ध: पक्षीराज जटायु मात्र एक विहग नहीं, अपितु श्रीराम के आत्मीय सहयोगी और पर्यावरण-संरक्षक हैं। वे सीता-हरण के समय रावण जैसे अधर्मी का प्रतिरोध करते हैं और अंत तक संघर्ष करते हैं।

वानर-भालू मैत्री: श्रीराम का सुग्रीव, हनुमान, अंगद एवं जाम्बवंत से संबंध यह स्थापित करता है कि मानव और वनेचर जातियाँ मिलकर असंभव कार्य सिद्ध कर सकती हैं। यह वन्यजीवों के प्रति मानवीय आदर का सर्वोच्च उदाहरण है।

रामायण में पर्यावरणीय द्वंद्व: राम-पक्ष बनाम रावण-पक्ष- वाल्मीकि-रामायण में पर्यावरण-चिंतन को दो सर्वथा विपरीत वैचारिक दृष्टिकोणों के माध्यम से समझा जा सकता है:

रावण का पक्ष : रावण उस विनाशकारी सोच का प्रतीक है, जिसने अपने अहंकार में अग्नि, वायु, मरुद्गण, इंद्र, यम तथा चंद्रमा जैसी प्राकृतिक शक्तियों को बंधक बना लिया था। यह दृष्टिकोण प्रकृति पर अनुचित अधिकार और अति-शोषण का प्रतिनिधित्व करता है। इसका अनिवार्य दुष्परिणाम लंका का दहन और रावण का समूल विनाश रहा।

राम का पक्ष: श्रीराम का पक्ष सत्य, धर्म और प्रकृति के साथ संपूर्ण सामंजस्य का पक्ष है। जब श्रीराम को समुद्र पार करना था, तो उन्होंने अपनी शक्ति के घमंड में समुद्र का शोषण करने के स्थान पर तट पर कुश (दर्भ) बिछाकर नम्रतापूर्वक प्रार्थना की:

ततः सागरवेलायां दर्भानास्तीर्य राघवः। अञ्जलिं प्राङ्मुखः कृत्वाप्रतिशिश्ये महोदधे ।।

(युद्धकाण्ड, सर्ग २१, श्लोक १)

राम के पास विशाल राजसी सेना नहीं थी, परंतु वानर, भालू, पक्षी (जटायु) तथा वनों के प्राकृतिक घटकों के प्रति उनके सम्मानजनक व्यवहार और सौहार्द के कारण ही उन्हें रावण जैसी आसुरी शक्ति पर विजय प्राप्त हुई।

निष्कर्ष- वाल्मीकि-रामायण केवल एक धार्मिक या पौराणिक महाकाव्य मात्र नहीं है, अपितु यह सर्वकालिक पर्यावरण-विज्ञान, पादप-पारिस्थितिकी और संधारणीय विकास का महान शास्त्रीय दस्तावेज है। यह महाकाव्य हमें यह सुस्पष्ट आईना दिखाता है कि यदि मानव रावण की भाँति प्रकृति का शोषण, दोहन और उसे बंधक बनाने की चेष्टा करेगा, तो उसका समूल विनाश अवश्यंभावी है।

इसके विपरीत, यदि मानव श्रीराम के पदचिह्नों पर चलते हुए प्रकृति के प्रत्येक घटक (पर्वत, नदी, वायु, औषधियों, पशु-पक्षियों) का आदर करेगा और उनके साथ तादात्म्य स्थापित करेगा, तो सीमित संसाधनों में भी अक्षय विजय और शाश्वत समृद्धि प्राप्त होगी। समकालीन विश्व को विनाश से बचाने हेतु वाल्मीकि-रामायण का यह पर्यावरणीय चिंतन अत्यंत प्रासंगिक, अनुकरणीय एवं दिशा-निर्देशक है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अथर्ववेद-द्वादशकाण्ड, सूक्त 1, मन्त्र 1
2. हमारा पर्यावरण एन. सी. ई. आर. टी., नई दिल्ली, पृष्ठ 02
3. श्रीमद्वाल्मीकिरामायण, पं. रामतेज पाण्डेय, प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009, अयोध्याकाण्ड सर्ग 94, श्लोक 3-10, पृष्ठ 474-475
4. वही, बालकाण्ड, सर्ग 45 श्लोक 27-29, पृष्ठ 149
5. वही, बालकाण्ड, सर्ग 24, श्लोक 7-11, पृष्ठ 106
6. वही, अयोध्याकाण्ड, सर्ग 44, श्लोक 8-13, पृष्ठ 348
7. वही, अयोध्याकाण्ड, सर्ग 52, श्लोक 83, पृष्ठ 372
8. वही, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग 67, श्लोक 9-10, पृष्ठ 906
9. वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग 50, श्लोक 3, 25-26, पृष्ठ 658-660
10. वही, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग 5, श्लोक 10-12, पृष्ठ 744
11. वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग 2, श्लोक 13, पृष्ठ 926
12. वही, युद्धकाण्ड, सर्ग 21, श्लोक 1, पृष्ठ 1173

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

कामकाजी महिलाओं की सामाजिक एवं पारिवारिक विचारधारा

नेहा कुमारी
शोध अध्येत्री - समाजशास्त्र विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)

PP.N0- 14-15 **Received: 10.01.2026** **Accepted:20.01.2026** **Email: ind.researchjournal@gmail.com**

सारांश: घर में सम्मान पाने, घरेलू हिंसा से बचने, एवं परिजनों के अपमान से बचने के लिए जब एक महिला आत्मनिर्भर होने के लिए घर से बाहर निकलती है, तो उसे समाज और पुरुष सत्तात्मक सोच रखने वालों से सामना करना पड़ता है, अनेक लोगों की टीका-टिप्पणियों, अर्थात् तानाकशी, घूरती निगाहों से सामना करना पड़ता है।

कुंजीभूत शब्द : कामकाजी महिला, घरेलू हिंसा, परिजन, अपमान, महिला, आत्मनिर्भर, विचारधारा, तानाकशी

भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति सदियों से दयनीय रही है, उनका हर स्तर पर शोषण और अपमान होता रहा है। पुरुष प्रधान समाज होने के कारण सभी नियम, कायदे, कानून पुरुषों के हितों को ध्यान में रख कर बनाये जाते रहे। खेलने और शिक्षा ग्रहण करने की उम्र में बेटियों की शादी कर देना और फिर बाल्यावस्था में ही गर्भ धारण कर लेना, उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए खतरनाक साबित होता रहा है। महिला को सिर्फ बच्चा पैदा करने की मशीन बना कर रखा गया (आज भी पिछड़े क्षेत्रों में यह परम्परा जारी है)। परिणाम स्वरूप प्रत्येक महिला अपने जीवन में दस से बारह बच्चों की माँ बन जाती थी, इस प्रक्रिया के कारण उन्हें कभी स्वास्थ्य को ठीक करने के लिए पर्याप्त अवसर नहीं मिलता था। अनेकों बार, कमजोर शरीर के रहते गर्भ धारण के दौरान अथवा प्रसव के दौरान उन्हें अपना जीवन भी गवाना पड़ता था, स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण जीवन अनेक बीमारियों के साथ व्यतीत करना पड़ता था। सदियों तक देश में विदेशी शासन होने के कारण उनकी समस्याओं की कहीं कोई सुनवाई भी नहीं की गयी, शिक्षा के अभाव में वे इसे ही अपना नसीब मान कर सहती रहती थीं। इसके अतिरिक्त दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों के कारण भी महिलाओं को कभी भी सम्मान से नहीं देखा गया। अक्सर परिवार में पुत्री के होने को ही अपने दुर्भाग्य की संज्ञा दी जाती रही है। बहू के मायके वालों के साथ अपमानजनक व्यवहार आज भी जारी है। इसी कारण परिवार में लड़की के जन्म को टालने के लिए हर संभव प्रयास किये जाते रहे, जो आज कन्या भ्रूण हत्या के रूप में भयानक रूप ले चुका है।

देश को आजादी मिलने के पश्चात् भारतीय संविधान ने महिलाओं के प्रति संवेदना दिखाते हुए, उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किये, और आजाद देश की सरकारों ने महिलाओं के हितों में समय-समय पर अनेक कानून बनाये, शिक्षा के प्रचार-प्रसार को महत्व दिया गया और बच्चियों को पढ़ने के लिए प्रेरित किया गया। इस प्रकार से जनजागरण होने के कारण महिलाओं ने अपने हक को पाने के लिए और पुरुषों द्वारा किये जा रहे अन्याय के विरुद्ध अनेक आन्दोलनों के माध्यम से अपनी आवाज बुलंद की, और समाज में पुरुषों के समान अधिकारों की मांग की। देश में महिला के हितों के लिए महिला आयोग का गठन किया गया, जो महिलाओं के प्रति होने वाले अन्याय के लिये संघर्ष करती है, उनके कल्याण के लिए शासन और प्रशासन से संपर्क कर महिलाओं की समस्याओं का समाधान कराती हैं।

2020 में प्राप्त आंकड़ों के अनुसार कामकाजी महिलाओं की कुल भागीदारी मात्र 26% है। अर्थात् इतना सब कुछ होने के बाद भी, आज भी महिलाओं की स्थिति में बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता है, अभी तो अधिकतर महिलाओं को यह आभास भी नहीं है कि वे शोषण का शिकार हो रही हैं और स्वयं एक अन्य महिला का शोषण करने में पुरुष समाज को सहयोग कर रही हैं।

महिलाओं को परिवार और समाज में अपना सम्मान पाने के लिए आर्थिक रूप से निर्भर होने की सलाह दी जाती है। यद्यपि प्राचीन काल से मजदूर वर्ग की महिलाएं अनेक प्रकार के काम-काज करती रही हैं, कुछ क्षेत्रों में जैसे घरों, सड़कों इत्यादि की साफ-सफाई, कपड़े धोना, नर्सिंग (दाई), सिलाई-बुनाई, खेती-बाड़ी सम्बन्धी कार्य इत्यादि में तो इनका एकाधिकार रहा है। अतिशिक्षित परिवारों एवं उच्च शिक्षित परिवारों की महिलाएं पहले से ही उच्च पदों पर आसीन होकर कामकाज करती रही हैं। जहाँ तक उच्च शिक्षित परिवारों की महिलाओं की बात की जाय तो उन परिवारों में महिलाएं अपेक्षाकृत हमेशा से ही सम्मान प्राप्त रही हैं, परन्तु मजदूर वर्ग में शिक्षा के अभाव में रूढ़िवादी समाज के कारण आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होते हुए भी अपमानित होती रहती थीं और आज भी विशेष बदलाव नहीं हो पाया है। महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने और शिक्षित होने के चलते मध्यवर्गीय परिवार की महिलाएं भी नौकरी, दुकानदारी अर्थात् व्यापार, ब्यूटी पार्लर, डॉक्टर जैसे व्यवसायों में पुरुषों के समान कार्यों को अंजाम देने लगी हैं। डॉक्टर, वकील, आई.टी., सी.ए., पुलिस जैसे क्षेत्रों में आज महिलाओं की बहुत मांग है।

परन्तु हमारे समाज का ढांचा कुछ इस प्रकार का है कि महिला को कामकाजी होने के बाद भी नए प्रकार के संघर्ष से जूझना पड़ता है, अब उन्हें अपने कामकाज के साथ घर की जिम्मेदारी भी यथावत निभानी पड़ती है। उसके लिए उन्हें सवेरे जल्दी उठ कर अपने परिवार

अर्थात् बच्चों और परिवार के अन्य सदस्यों के लिए भोजन इत्यादि की व्यवस्था करनी होती है, बच्चों के सभी कार्यों को शीघ्र निपटाना पड़ता है। उसके पश्चात् संध्या समय लौटने के बाद गृह कार्यों में लगना होता है, क्योंकि परिवार के पुरुष आज भी घर के कार्यों की जिम्मेदारी सिर्फ घर की महिला की ही मानते हैं। कुछ पुरुष तो कुछ भी सहयोग करने को तैयार नहीं होते, यदि महिला उन पर दबाव बनाती है तो अक्सर पुरुषों को कहते सुना जाता है कि अपनी नौकरी अथवा कामकाज छोड़ कर घर के कार्यों को ठीक से निभाओ, महिला की जिम्मेदारी घर सँभालने की होती है। मजबूरी में महिला दो पाटों के बीच पिस कर रह जाती है—जो महिलाएं आर्थिक रूप से सक्षम होती हैं, वे अवश्य घर के कार्यों को निपटाने के लिए, बच्चों के कार्यों में सहयोग के लिए आया और कुक की व्यवस्था कर लेती हैं, परन्तु गरीब एवं अल्प मध्यवर्गीय परिवारों की महिलाओं के लिए आज भी यह सब कुछ संभव नहीं है।

महिला के लिए नियोक्ता भी सहज नहीं दिखता, क्योंकि हमारे देश के कानून में महिलाओं की सुरक्षा की जिम्मेदारी भी नियोक्ता पर होती है, वह उससे देर रात तक कार्य नहीं ले सकता, उसे सवेतन मातृत्व अवकाश भी देना होता है, पुरुष कर्मियों के समान भारी कार्यों को उन्हें नहीं सौंप सकता, व्यावसायिक कार्यालय से बाहर के कार्यों को भी उनसे कराना उनकी सुरक्षा का ध्यान रखते हुए जोखिमपूर्ण होता है इत्यादि। परन्तु अनेक पदों पर जैसे यात्रियों को घर जैसा अनुभव देने के लिए एयर होस्टेस, महिला एक ममता की प्रतिमूर्ति होने के कारण अस्पतालों में नर्स, आगंतुकों/ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए बड़े-बड़े वाणिज्यिक संस्थानों के स्वागत कक्ष में रिसेप्शनिस्ट, मार्केटिंग के लिए सेल्स गर्ल, छोटे-छोटे ढाबों में ग्राहकों को घर के खाने जैसा स्वाद की कल्पना करने के लिए अधेड़ या बूढ़ी महिला को नियुक्त करना, उनकी मजबूरी भी होती है। महिलाओं की ईमानदारी, वफादारी, कर्मठता के कारण भी महिलाओं की नियुक्ति करना नियोक्ता के हित में होता है।

घर में सम्मान पाने, घरेलू हिंसा से बचने एवं परिजनों के अपमान से बचने के लिए जब एक महिला आत्मनिर्भर होने के लिए घर से बाहर निकलती है, तो उसे समाज और पुरुष सत्तात्मक सोच रखने वालों से सामना करना पड़ता है। अनेक लोगों की टीका-टिप्पणियों अर्थात् तानाकशी, घूरती निगाहों से सामना करना पड़ता है। उदंड व्यक्तियों की छेड़छाड़ से बचने के लिए उपक्रम करने होते हैं। कभी-कभी तो बलात्कार और प्रतिरोध स्वरूप हत्या का शिकार भी होना पड़ता है।

जब वह अपने कार्यस्थल अर्थात् ऑफिस, फैक्ट्री पर पहुँचती है, तो उसे अपने सहयोगियों और बॉस की दुर्भावनाओं का शिकार होना पड़ता है। संध्या समय अपने कार्यस्थल से लौटते समय भी उसे अनेक अनहोनी घटनाओं की आशंका से ग्रस्त रहना पड़ता है। उसके मन में व्याप्त असुरक्षा की भावना आज भी उसके लिए जीवन को कष्टदायक बनाये हुए है। पुलिस से भी उसे कोई सकारात्मक पहल की उम्मीद नहीं होती, अनेक बार तो वह उनके दुर्व्यवहार का भी शिकार हो जाती है।

महिलाओं को अपने वेतन के मामले में भी शोषण का शिकार होना पड़ता है, जब उन्हें पुरुषों के मुकाबले (गुपचुप तरीके से—गैर-कानूनी होने के कारण) कम वेतन के लिए कार्य करना पड़ता है।

पुरुष प्रधान समाज की सोच में अभी उल्लेखनीय परिवर्तन देखने को नहीं मिलता, साथ ही हमारी लचर न्याय व्यवस्था के कारण, यदि कोई महिला सरेआम किसी अत्याचार का शिकार होती है, तो समाज के लोग उसका बचाव करने से भी डरते हैं। अतः उसे समाज और भीड़ से भी अपने पक्ष में माहौल मिलने की सम्भावना कम ही रहती है। यदि यह कहा जाय कि जिस शोषण की स्थिति से निकलने के लिए वह घर की चारदीवारी से बाहर आई थी, उस मकसद में सफल होना अभी दूर ही दिखाई देता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Changing status of the working woman in India.
2. Vikash publishing house new Delhi 1974.
3. Role Stress Among Working Women, New Delhi 1997.
4. Women in two work Roles and the Quality of their life 2004.

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का महत्व

डॉ० अश्विनी कुमार यादव
पीएचडी, प्राचीन इतिहास
वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर (उ०प्र०)

PP.N0- 16-18 **Received: 12.01.2026** **Accepted:22.01.2026** **Email: ind.researchjournal @gmail.com**

सारांश: भारत के प्राचीनतम धर्मों में जैन धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। कतिपय विद्वान जैन धर्म का सम्बन्ध सैंधव सभ्यता में उपलब्ध पशुपति या योगमूर्ति के साथ जोड़ते हैं। ये जैन धर्म की परम्परा और विकास सैंधव सभ्यता से सम्बन्धित करते हैं। वे जैन धर्म का प्रादुर्भाव और विकास अनार्यों की धार्मिक विचारधाराओं और प्रणालियों से मानते हैं। अन्य विद्वान जैन धर्म का उदय ऋग्वैदिक काल में मानते हैं। वे ऋग्वेद के केशीसूक्त में वर्णित तपस्वियों और जैन श्रमणों का सम्बन्ध जैन धर्म से प्रदर्शित करते हैं। आर्यों के वैदिक साहित्य में जैन धर्म के तीर्थंकरों के नाम भी हैं ऋग्वेद के मन्त्रों में जैन धर्म के सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख है। यजुर्वेद में भी उल्लिखित है कि ऋषभ धर्म प्रवर्तकों में श्रेष्ठ हैं। अथर्ववेद और गोपथ ब्राह्मण में संकेतित स्वयंभू काश्यप का तादात्म्य ऋषभदेव से किया जाता है। अन्य ग्रन्थ विष्णु पुराण और भागवत पुराण में भी ऋषभदेव की कथा का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में अरिष्टनेमि का भी उल्लेख है। यजुर्वेद में अजिनाथ तीर्थंकर का भी उल्लेख है। ये सब उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि जैन धर्म यदि अधिक नहीं तो उतना ही पुरातन धर्म है, जितना कि वैदिक धर्म।

कुंजीभूत शब्द : जैन धर्म, सैंधव सभ्यता, भारतीय संस्कृति, ऐतिहासिक, प्रादुर्भाव, निवृत्ति मार्ग, विकास और अवदान

भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में जैन परंपरा का विकास और अवदान- भारतीय महाद्वीप का इतिहास विविध धार्मिक एवं दार्शनिक धाराओं के संगम से निर्मित हुआ है। इस ऐतिहासिक विकासक्रम में जैन परंपरा की भूमिका केवल एक पृथक् धर्म के रूप में ही नहीं, बल्कि भारतीय चेतना को निरंतर परिष्कृत करने वाले एक सशक्त वैचारिक आंदोलन के रूप में रही है। प्राचीन भारत के धार्मिक इतिहास को गहराई से समझने के लिए जैन परंपरा के उद्भव, इसके ऐतिहासिक साक्ष्यों और इसके सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। आदिकाल से ही जैन धर्म भारतीय संस्कृति को सुसंस्कृत सुपल्लवित एवं सुफलित करता है। इस धर्म का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब भारत के लोग अत्यन्त असभ्य और पिछड़े हुए थे, ज्ञान और विज्ञान का कोई प्रकाश नहीं था। ऐसी विषम परिस्थिति में इस धर्म ने अपने ज्ञान से लोगों को आलोकित किया तथा सन्मार्ग और सदाचरण का दिग्दर्शन कराया। इस तरह की संस्कृति में सुधार लाने का प्रथम श्रेय जैन धर्म के साधकों एवं तीर्थंकरों को है। भारतीय संस्कृति को जैन धर्म की अपनी अनोखी देन रही है।

जैन धर्म के सिद्धान्तों में निवृत्ति मार्ग का प्रधान स्थान है। जिसके माध्यम से व्यक्ति जगत की नाना प्रकार की व्याधियों और तृष्णाओं से विमुक्त हो जाता है। प्रवृत्ति एवं वांछा में लिप्त व्यक्ति सुख और समृद्धि के लिये सर्वदा भोग और तृष्णा में व्यस्त रहता है। सांसारिक वस्तुओं को अधिकाधिक प्राप्त करने से भी उसे संतोष नहीं मिलता। उसकी वांछा और अभिलाषा तीव्र होती जाती है। अतः जगत के समस्त सुख-दुख के कारण है प्रवृत्ति का त्याग करके निवृत्ति का अनुपालन ही वास्तविक और स्थायी सुख का मूल है। इस धर्म की प्रमुख विशेषता संन्यास त्याग या निवृत्तिवादी विचारधारा है। जी०सी०पाण्डेय एवं एस० दत्त आदि विद्वानों की मान्यता है कि संसार त्याग की धारणा का विकास ब्राह्मण धर्म की देन नहीं है, अपितु पूर्ववत विद्यमान विचारधारा से इसे ग्रहण किया।

सिंधु सभ्यता से ऋग्वैदिक काल तक: जैन परंपरा की प्रागैतिहासिक जड़ें- जैन धर्म की प्राचीनता को लेकर इतिहासकारों और पुरातत्वविदों के मध्य दो प्रमुख विचारधारायें रही हैं। प्रथम दृष्टिकोण इसे प्रागैतिहासिक सैंधव संस्कृति (हड़प्पा-मोहनजोदड़ो) से संबद्ध करता है। सिंधु घाटी की खुदाई से प्राप्त नग्न ध्यानस्थ प्रतिमाएँ, पशुपति की मुद्रा में अंकित कायोत्सर्ग (खड़े होकर ध्यान लगाना) और पद्मासन की स्थितियाँ इस बात की प्रबल संभावना को जन्म देती हैं कि श्रमण परंपरा की जड़ें आर्यों के आगमन से भी पूर्व इस भूमि पर जम चुकी थीं। कई इतिहासकार इसे अनार्य अथवा आर्य-पूर्व संस्कृति की आध्यात्मिक धारा मानते हैं, जहाँ काय-क्लेश, तपस्या और आत्म-नियंत्रण को जीवन का मुख्य उद्देश्य माना गया था।

दूसरी ओर, वैदिक साहित्य का सूक्ष्म अनुशीलन यह स्पष्ट करता है कि ऋग्वैदिक काल में भी जैन धर्म की उपस्थिति विद्यमान थी। ऋग्वेद का 'केशीसूक्त' ऐसे तपस्वियों और वायु-रशना मुनियों का वर्णन करता है जो वस्त्रों का त्याग कर आत्म-साधना में लीन रहते थे। इन श्रमणों का रहन-सहन और आचार-विचार जैन आचार-संहिता से पूरी तरह मेल खाता है।

वैदिक ग्रंथों में जैन तीर्थंकरों का उल्लेख इस परंपरा की प्रामाणिकता को और सुदृढ़ करता है। ऋग्वेद में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) और २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का आदरपूर्वक स्मरण किया गया है। यजुर्वेद में ऋषभदेव को धर्म-प्रवर्तकों में सर्वश्रेष्ठ के रूप में स्वीकार किया गया है, जबकि अथर्ववेद तथा गोपथ ब्राह्मण में उल्लिखित 'स्वयंभू काश्यप' की पहचान भी ऐतिहासिक रूप से

ऋषभदेव से की जाती है। इसके अतिरिक्त, पौराणिक परंपरा में विष्णु पुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण जैसे वैष्णव ग्रंथों में भी ऋषभदेव के जीवन, उनके महान त्याग और अवधूत रूप का विशद वर्णन मिलता है। ये समस्त साक्ष्य इस निष्कर्ष की ओर इंगित करते हैं कि जैन धर्म की प्राचीनता उतनी ही सुदूर और प्रामाणिक है जितनी कि वैदिक धर्म की।

वैचारिक क्रांति और निवृत्ति मार्ग का उदय- आदिकाल से ही जैन धर्म ने भारतीय समाज को एक नई दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिस कालखंड में समाज कर्मकांडीय जटिलताओं, पशु-बलि और बाह्य आडंबरों की ओर झुक रहा था, उस समय जैन तीर्थंकरों और श्रमणों ने अंतरंग शुद्धि, अहिंसा और सदाचरण का मार्ग दिखाकर समाज को नवजीवन प्रदान किया। सांस्कृतिक सुधार की इस प्रक्रिया में जैन आचार्यों का योगदान अतुलनीय रहा।

जैन दर्शन का मूल आधार 'निवृत्ति मार्ग' (त्याग और संन्यास की विचारधारा) है। जैन आचार्यों ने यह प्रतिपादित किया कि भौतिक जगत् की वस्तुएँ, अभिलाषाएँ और संचय का भाव कभी भी मनुष्य को स्थायी सुख प्रदान नहीं कर सकता। संसार की तृष्णा अग्नि में आहुति के समान है, जो उपभोग से शांत होने के स्थान पर और भड़कती है। इसलिए, वास्तविक सुख और शांति सांसारिक वस्तुओं के 'प्रवृत्ति' (भोग) में नहीं, अपितु उनके 'निवृत्ति' (त्याग) में निहित है। इतिहासकार डॉ. जी. सी. पांडे और डॉ. एस. दत्त का मानना है कि भारतीय परंपरा में संसार-त्याग और संन्यास की यह अवधारणा मूलतः श्रमण परंपरा की देन है, जिसे कालांतर में ब्राह्मण धर्म ने भी संन्यास आश्रम के रूप में सहर्ष स्वीकार किया।

कर्म-सिद्धान्त और ईश्वर-विषयक अवधारणा- जैन दर्शन का 'कर्म-सिद्धान्त' इसकी सबसे अनूठी और मौलिक विशेषता है। 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन' से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'जेता'—अर्थात् जिसने अपनी बाह्य सीमाओं के स्थान पर अपने आंतरिक शत्रुओं जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो।

जैन धर्म में ईश्वर को इस सृष्टि का रचयिता, पालनकर्ता या संहारक नहीं माना गया है। यहाँ मनुष्य को ही अपने भाग्य का एकमात्र निर्माता स्वीकार किया गया है। व्यक्ति के सत् और असत् कर्म ही उसके सुख, दुख, बंधन और मुक्ति का निर्धारण करते हैं। कोई भी अलौकिक सत्ता मनुष्य के कर्मफल में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इस प्रकार, जैन धर्म ने व्यक्ति को स्वयं के प्रति उत्तरदायी बनाकर उसे नैतिक और आत्म-निर्भर बनने की प्रेरणा दी। कर्म ही इस जगत् की मुख्य संचालित शक्ति है और शुद्ध आत्म-साधना से ही कर्म-बंधन को काटकर मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

दार्शनिक योगदान: अनेकांतवाद और स्याद्वाद- भारतीय दर्शन के इतिहास में जैन धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान 'अनेकांतवाद' और 'स्याद्वाद' का सिद्धांत है। जहाँ वेदांत दर्शन केवल एक परम तत्त्व (ब्रह्म) को सत्य मानकर दृश्यमान जगत् को मिथ्या या माया बतलाता है, और चार्वाक दर्शन केवल भौतिक तत्त्वों को ही अंतिम सत्य स्वीकार करता है, वहीं जैन दर्शन अत्यंत व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुए जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन) दोनों के स्वतंत्र एवं वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करता है।

जैन तत्वज्ञान में सत्ता को छह द्रव्यों में विभाजित किया गया है। द्रव्य की परिभाषा देते हुए बताया गया है कि जो 'उत्पाद' (उत्पन्न होना), 'व्यय' (नष्ट होना) और 'ध्रौण्य' (नित्य रहना)—इन तीनों लक्षणों से युक्त हो, वही द्रव्य है। इस प्रकार जैन दर्शन ने न तो कूटस्थ नित्यता को माना और न ही क्षणभंगुरता को, बल्कि परिवर्तन और नित्यता के मध्य एक संतुलन स्थापित किया।

इसी दार्शनिक दृष्टि से 'अनेकांतवाद' का जन्म हुआ, जो यह सिखाता है कि किसी भी वस्तु या विचार के अनेक पहलू हो सकते हैं। एकांगी या हठधर्मी दृष्टिकोण से पूर्ण सत्य को नहीं जाना जा सकता। स्याद्वाद की यह न्याय-शैली भारतीय चिंतन परंपरा की एक अमूल्य निधि बनी, जिसने विचारों के मतभेद को हिंसा में बदलने से रोका और वैचारिक सहिष्णुता तथा समन्वय की नींव रखी।

कला, स्थापत्य और साहित्य का स्वर्णिम विकास- जैन परंपरा का प्रभाव केवल दर्शन और सिद्धांतों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने भारत की कला, शिल्प और साहित्य को भी अत्यधिक समृद्ध किया। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से ही जैन आचार्यों और राजाओं ने कला को धर्म-प्रसार और लोक-कल्याण का माध्यम बनाया।

ओडिशा में स्थित खारवेल के समय की 'हाथीगुंफा' गुफाएँ जैन स्थापत्य के प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। ईस्वी सन की शुरुआती सदियों में मथुरा जैन कला का एक विशाल केंद्र बनकर उभरा, जहाँ से प्राप्त अलंकृत तोरण, पाषाण रेलिंग और तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ तत्कालीन मूर्तिकला के उच्च स्तर को दर्शाती हैं।

मध्यकाल तक आते-आते जैन स्थापत्य कला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई।

राजस्थान: माउंट आबू पर ११वीं से १३वीं शताब्दी के बीच निर्मित 'दिलवाड़ा के जैन मंदिर' संगमरमर पर की गई अत्यंत सूक्ष्म और अद्भुत नक्काशी के लिए विश्वभर में अद्वितीय माने जाते हैं। पाली जिले में स्थित 'रणकपुर का जैन मंदिर' अपने १,४४४ स्तंभों की अनूठी संरचना और वास्तुशिल्प के लिए प्रसिद्ध है।

मध्य प्रदेश: खजुराहो के 'घंटाई' और 'आदिनाथ' मंदिर तथा देवगढ़ के मंदिर जैन स्थापत्य की भव्यता के प्रमाण हैं।

अन्य प्रमुख केंद्र: बिहार का पार्श्वनाथ पर्वत (सम्मेद शिखर), पावापुरी, राजगृह, गुजरात का गिरनार एवं पालीताना तथा दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोला (जहाँ भगवान बाहुबली की विशाल एकश्म प्रतिमा स्थित है) भारतीय कला और स्थापत्य के अमर प्रतीक हैं।

उपसंहार- निष्कर्षतः, जैन धर्म ने अपनी सुदूर प्राचीनता, अहिंसात्मक जीवन-शैली, कर्म-प्रधान दर्शन, अनेकांतवादी समन्वयकारी दृष्टि और अनुपम कलात्मक धरोहर के माध्यम से भारतीय संस्कृति को गहराई से प्रभावित किया है। यह एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसने भारत की नैतिक चेतना को ऊँचा उठाया। यही कारण है कि जैन परंपरा के ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति का संपूर्ण इतिहास अधूरा ही रहता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. केशीसूक्त 10.136
2. ऋग्वेद 10.166.1
3. अथर्ववेद 11.5.24-26, गोपथ ब्राह्मण 2.8
4. श्रीमद्भागवत 2.28
5. उत्तराध्ययन 13.06.17, 14.13, 13.26; जैन सूत्र 2.301-4
6. मातंगजातक 4.388
7. मनुस्मृति 4.15
8. जैन सूत्र 2.301

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

भारतीय लोकतंत्र एवं भ्रष्टाचार: एक अध्ययन

पुष्पा कुमारी सोनी
शोध अध्येत्री - राजनीति विज्ञान,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)

PP.N0- 19-20 **Received: 14.01.2026** **Accepted:26.01.2026** **Email: akbar786ali888@gmail.com**

सारांश: पिछले दिनों विश्व पटल पर ऐसी घटनाएँ घटी की दुनिया स्तब्ध रह गयी। मिस्र में 'होस्नी मुबारक', ट्यूनीशिया में 'अबीदीन बिन', और लीबिया में 'कर्नल गद्दाफी' के खिलाफ ऐसा जनान्दोलन उठ खड़ा हुआ कि इन शासकों को अपनी जान बचाना मुश्किल हो गया। सच है जनमत ऐसा राक्षस है जो सोया रहता है लेकिन जब वह जागता है तो बड़ी से बड़ी सत्ता को उलट कर रख देता है। जब कोई शासक या सरकार अपने को देश या आवाम से बड़ा मान लेती है तब उसका यही हश्र होता है। कर्नल गद्दाफी का "अपने चारों तरफ विदेशी लड़कियों का घेरा बनाए रखना, अयासी पर अंधाधुंध खर्च करना, प्रजा के प्रति जवाबदेह नहीं होना, निरंकुश सत्ता पर अपने परिवार का कब्जा जमा लेना आदि वे काम है, जिनके विरोध की अंतर्धारा गद्दाफी के अपने कबीले में भी बहती रही है।"

कुंजीभूत शब्द : जनान्दोलन, शासक, मुश्किल, जनमत, सरकार, लोकतंत्र, भ्रष्टाचार, क्रान्ति, सूत्रपात, लोकपाल

दुनिया के इन महत्वपूर्ण परिवर्तनों के बीच भारत में भी एकाएक 72 वर्षीय 'अन्ना हजारे' ने क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया। "अन्ना हजारे ने एक बार फिर हमें यह सिखाया कि कुछ भी असंभव नहीं है। सरकार चाहे कितनी ही ताकतवर क्यों न हो, उसे लोगों की आकाँक्षाओं के सामने झुकना ही पड़ता है। हम प्रयास करें कि कोई भी सिनिकल व्यक्ति इस सच को झुठला न सके।" 72 वर्ष की उम्र, व्यक्ति के आराम करने की उम्र होती है। फिर अन्ना को क्या जरूरत आन पड़ी की महाराष्ट्र से आकर उन्होंने दिल्ली के जन्तर-मन्तर में 'जन लोकपाल विधेयक' के लिए आमरण अनशन पर बैठ गये। वस्तुतः अन्ना यह महसूस कर रहे थे कि जिस तरह से भारत में पिछले दिनों घोटालों का महाविस्फोट हुआ है उससे इस देश की जनता कुलबुला रही है। जरूरत है तो उसे सही दिशा देने की।

आज जिस तरह का चरित्र भारतीय नेता जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं उससे, मैग्सेसे पुरस्कार विजेता संदीप पाण्डे विचलित हैं। "जनता अजीज आ चुकी है। वह देखती है कि जनप्रतिनिधि चुने जाने के थोड़े ही दिनों बाद वह अपनी आय के ज्ञात स्रोतों से ज्यादा धन जुटा लेता है। उसके रहन-सहन का तरीका ही बदल जाता है। संसद में जनप्रतिनिधि अपने लिए सुविधाएँ बढ़ाते चले जाते हैं, जबकि बहुसंख्यक जनता अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को भी न्यूनतम ढंग से पूरा कर पाने में नाकाम है। इससे भी उनका काम नहीं चलता तो वे भ्रष्टाचार के नए-नए तरीके खोजते हैं। अपनी निधि बढ़वाने से लेकर तमाम परियोजनाओं, विकास व कल्याणकारी योजनाओं में बंदर-बाट हेतु प्रतिस्पर्धा तो चलती ही रहती है। इसमें नौकरशाह भी पूरी तरह लिप्त होते हैं। इसीलिए उनको भी आसानी से छठा वेतन आयोग मिल जाता है। हद तो यहाँ तक हो गयी की संसद में सवाल पूछने के भी पैसे लिए जाने लगे। आधे से अधिक लोकसभा सदस्य करोड़पति हैं तो एक-तिहाई के खिलाफ आपराधिक मामले लंबित है। इससे मालूम होता है कि किस तरह के लोग, किस तरह से संसद में पहुँचते हैं। भ्रष्टाचार के पैसे से दलों की राजनीति पोषित होती है। ऐसे सांसद ढूँढ़ने से ही मिलेंगे, जो चुनाव आयोग द्वारा तय की गई चुनाव प्रचार पर 25 लाख रुपये की सीमा के अंदर खर्च कर चुनाव जीतकर आए हों।

सारे नियम-कानून ताक पर रखकर निहित स्वार्थ के लिए राजनीतिक प्रक्रिया को बंधक बनाए रखने वाले राजनीतिज्ञ नहीं चाहते कि उनकी कार्यशैली पर कोई सवाल उठाए। खासकर उनकी बिरादरी के बाहर का कोई व्यक्ति। वर्तमान राजनीति के आधार हैं भ्रष्टाचार व हिंसा। वाम से लेकर दक्षिण पंथ तक की विचारधाराओं को मानने वाले दल इन तरीकों का इस्तेमाल करते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई भी अभिभावक अपने बच्चे का चरित्र निर्माण एवं भविष्य निर्माण के लिए किसी नेता को नहीं सौंप सकता है लेकिन देश को इन नेताओं के हाथ में सौंपकर निश्चिंत हो जाता है। आम आदमी से लेकर बुद्धिजीवी तक वोट देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है। आज भारतीय राजनीति और राजनीतिज्ञ, भ्रष्टाचार में आपादमस्तक लिप्त हैं। बक़ौल डॉ० दिनेश कुशवाह—

"पचास साल के लोकतंत्र पर गिरी है वंशवाद, गुण्डागीरी और जाति की गाज कोढ़ में खाज की तरह कि अंधे बाँटते हैं रेवड़ी और चीन्ह-चीन्ह कर देते हैं दुर्योधनों की भीड़ से सभाएँ भरी हैं किसी भी समय में इतने धृतराष्ट्र नहीं थे मंजिल उन्हें मिली है जो सफर में कहीं नहीं थे।"

जो सफर में नहीं थे उन्हें मंजिल मिल गयी है। कारण साफ है 'नीरा राड़िया' ने सबको खरीद रखा है। भारतीय मीडिया एवं न्यायपालिका को दुनिया में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। मीडिया लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ माना जाता है लेकिन पिछले दिनों जिस तरह के रहस्योद्घाटन हुए उससे साफ हो गया कि... [उन्मूलन यदि कोई करेगा तो जनता ही करेगी]। ऐसी जनता जो नेताओं और राजनीतिक दलों के

काबू से बाहर है। जो स्वयं भ्रष्ट नहीं हैं और भ्रष्टाचार जिसके लिए सिर्फ खबर नहीं है। वह उस पूरी व्यवस्था को उलट देगी, जो भ्रष्टाचार की जननी है।"

युवा शक्ति को भ्रष्टाचार के खिलाफ सजग होना होगा क्योंकि इस छूत से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सबसे ज्यादा युवा ही प्रभावित होता है। उन्हें लोगों को यह अहसास दिलाना होगा कि भ्रष्टाचार का स्रोत हमारा दिल ही है तथा इस विषय पर लोगों को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करना होगा।

भ्रष्टाचार एक राजनीतिक समस्या है। इसे राजनेताओं द्वारा पोषित किया जाता है। आगे चलकर नौकरशाह और फिर छोटे कर्मचारियों में यह पल्लवित, पुष्पित होता है। जरूरत इस बात की है कि इसके मूल में कुठाराघात किया जाय। वरिष्ठ पत्रकार प्रीतीश नंदी के मतानुसार— "भ्रष्टाचार एक राजनीतिक मसला है। भारतीय उतने भ्रष्ट नहीं हैं, जितना हमें लगता है। जब आप किसी निजी कंपनी के सीईओ से मिलने जाते हैं, तो उसके दफ्तर के बाहर बैठा चपरासी आपसे 'चाय-पानी' की माँग नहीं करता। लेकिन जरा किसी मंत्री से मिलने की कोशिश करें। किसी को रिश्वत मांगने में शर्म नहीं आती। लेकिन यदि हम चाहें तो भ्रष्टाचार का खात्मा कर सकते हैं। यह पूरी तरह से एक राजनीतिक समस्या है।"

मताधिकार का प्रयोग करते समय व्यक्ति को यह याद रखना होगा कि वह अपना वोट जाति, धर्म, सम्प्रदाय, के आधार पर नहीं और न ही किसी प्रलोभन एवं पैसे के लालच में दें बल्कि स्वच्छ छवि के व्यक्ति का चुनाव करना चाहिए क्योंकि भ्रष्टाचार की केन्द्रीय धुरी 'चुनावी भ्रष्टाचार' है, पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त टी०एन० शेषन के अनुसार "क्या आप जानते हैं कि हमारे देश में चुनाव कैसे होते हैं? पिता के लिए शराब, माँ के लिए कपड़े और बच्चे के भोजन। आखिर इस देश में क्या भ्रष्ट नहीं हैं? भारत का केन्द्रीय व्यसन या दोष भ्रष्टाचार है, भ्रष्टाचार की केन्द्रीय धुरी है- चुनावी भ्रष्टाचार, और चुनावी भ्रष्टाचार की केन्द्रीय धुरी है कारोबारी घराने।"

आम आदमी को जिस तरह अपना नेता चुनने का अधिकार भारतीय संविधान देता है उसी तरह भ्रष्ट नेताओं को वापस बुलाने का भी अधिकार मिलना चाहिए।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय लोकतंत्र को यदि बचाना है तो, सभी को एकजुट होकर भ्रष्टाचार रूपी दानव का सामना करना होगा तभी भारतीय 'जन गण मन' की 'जय' होगी और हमारा राष्ट्र विश्व शक्ति के रूप में दुनिया के सामने स्थापित होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अदम गोंडवी- 'समय से मुठभेड़', प्रकाशक- वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृष्ठ-40.
2. वेदप्रताप वैदिक- 'अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में अकेले गद्दाफी की' (लेख), दैनिक भास्कर, 23 फरवरी 2011.
3. प्रीतिश नंदी- 'भ्रष्टाचार के विरूद्ध' (लेख), दैनिक भास्कर, 14 अप्रैल 2011.
4. संदीप पाण्डेय- 'परिपक्व होता लोकतंत्र' (लेख), दैनिक भास्कर, 16 अप्रैल, 2011.
5. दिनेश कुशवाह- 'आज भी खुला है अपना घर फूंकने का विकल्प' (कविता), वागर्थ पत्रिका, अक्टूबर 2009, पृष्ठ-09.
6. गजानन माधव मुक्तिबोध- 'प्रतिनिधि कविताएँ', राजकमल पेपरबैक्स 1993, पृष्ठ-166.
7. गजानन माधव मुक्तिबोध- 'प्रतिनिधि कविताएँ', राजकमल पेपरबैक्स 1993, पृष्ठ-165.
8. वेदप्रताप वैदिक- 'घोटालों के सीरियल ब्लास्ट' (लेख), दैनिक भास्कर, 09 मार्च, 2011.
9. वेदप्रताप वैदिक- 'मुझे कुछ पता नहीं' (लेख), दैनिक भास्कर, 23 मार्च 2011.
10. वेदप्रताप वैदिक- 'मुझे कुछ पता नहीं' (लेख), दैनिक भास्कर, 23 मार्च 2011.
11. ब्रह्मदेव मिश्र, शिवकुमार मिश्र (सम्पादक)- 'धूमिल की श्रेष्ठ कविताएँ', प्रकाशक- लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण-2009, पृष्ठ-101,102.
12. ब्रह्मदेव मिश्र, शिवकुमार मिश्र (सम्पादक)- 'धूमिल की श्रेष्ठ कविताएँ', प्रकाशक- लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण-2009, पृष्ठ-102,103.
13. डा० महेश परिमल- 'भास्कर ब्लॉग', दैनिक भास्कर, 15 मार्च 2011.
14. वेदप्रताप वैदिक- 'घोटालों के सीरियल ब्लास्ट' (लेख), दैनिक भास्कर, 09 मार्च 2011.
15. प्रीतिश नंदी- 'समस्याओं की राजनीति' (लेख), दैनिक भास्कर, 24 सितम्बर 2010.
16. राजदीप सरदेसाई- 'भ्रष्टाचार के खिलाफ जंग' (लेख), दैनिक भास्कर, 22 अप्रैल 2011.

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

भारतीय ललित कलाओं का अंतर्संबंध

1. सुरबाला, 2. प्रो. ज्योति शर्मा

1.शोध अध्येत्री - संगीत विभाग, साहु रामस्वरुप महिला महाविद्यालय, बरेली(महात्मा ज्योतिबा फुले रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली)
2. शोध निर्देशिका, संगीत विभाग, साहु रामस्वरुप महिला महाविद्यालय, बरेली

PP.N0- 21-24 **Received: 17.02.2026** **Accepted:22.02.2026** **Email: surbalavm@gmail.com**

सारांश: भारतीय ललित कला परंपरा विश्व की प्राचीनतम, सबसे गौरवशाली और बहुआयामी सांस्कृतिक विरासतों में से एक है। ललित कलाओं के अंतर्गत संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला और काव्य कला को मुख्य रूप से समाहित किया जाता है, जिन्हें मानवीय भावनाओं, दार्शनिक विचारों और उच्च आध्यात्मिक आदर्शों की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त और सूक्ष्म माध्यम माना गया है। प्रस्तुत शोध-पत्र एवं लेख में ललित कलाओं के परस्पर अंतःसंबंधों, उनके ऐतिहासिक विकास-क्रम तथा वर्तमान समकालीन परिप्रेक्ष्य में उनकी प्रासंगिकता का गहन और विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। वर्तमान वैश्वीकरण, तकनीकी प्रगति और डिजिटल क्रांति के युग में कलाओं के प्रदर्शन, शिक्षण और क्रियान्वयन के स्वरूप में व्यापक परिवर्तन आए हैं। यह अध्ययन पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा की आन्तरिक गहनता और आधुनिक अकादमिक शिक्षा प्रणाली के मध्य विद्यमान अंतरालों व दूरियों को रेखांकित करता है। इसके साथ ही यह इस बात का सूक्ष्म विश्लेषण करता है कि किस प्रकार ललित कलाएं न केवल हमारी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अक्षुण्ण रखती हैं, बल्कि समकालीन समाज में मानसिक स्वास्थ्य, सौंदर्यबोध, तनाव प्रबंधन और सामाजिक समरसता के विकास में भी अत्यंत महती भूमिका निभाती हैं।

कुंजीभूत शब्द : ललित कला, भारतीय संगीत परंपरा, शास्त्रीय संगीत, संगीत शिक्षा, गुरु-शिष्य परंपरा, सौंदर्यबोध, सांस्कृतिक पुनर्रचना

प्रस्तावना- भारतीय वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य और संगीत—ये पाँचों ललित कलाएँ मानव चेतना, बौद्धिक विकास और आत्मिक उत्थान के उच्चतम शिखर की जीवंत अभिव्यक्तियाँ हैं। प्राचीन भारतीय मनीषा, ऋषियों और आचार्यों ने इन कलाओं को केवल बाह्य मनोरंजन या समय-यापन का साधन नहीं माना, बल्कि इन्हें जीवन दर्शन, आत्म-अनुशासन, नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक साधना का सुगम मार्ग स्वीकार किया है। प्राचीन सांस्कृतिक ग्रंथों और साहित्यों, जैसे प्रसिद्ध 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के 'चित्रसूत्र' में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यद्यपि कलाओं में चित्रकला का स्थान अत्यंत श्रेष्ठ है, किंतु कलाओं का सम्यक, पूर्ण और व्यावहारिक ज्ञान संगीत के बिना पूरी तरह अधूरा रहता है।

ललित कलाओं की इस भव्य और प्राचीन परंपरा में संगीत विधा अपने अमूर्त, निराकार और अतीव सूक्ष्म स्वरूप के कारण एक अत्यंत विशिष्ट और सर्वोच्च स्थान रखती है। जहाँ अन्य विधाओं जैसे मूर्तिकला और वास्तुकला को अपने अस्तित्व के लिए भौतिक आधार, पत्थरों और ठोस सामग्रियों की आवश्यकता होती है, वहीं संगीत ध्वनि, नाद और स्वरों के माध्यम से बिना किसी भौतिक माध्यम के सीधे मानवीय अंतरात्मा से संवाद स्थापित करता है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यदि अवलोकन किया जाए, तो भारतीय संगीत और कला परंपरा वेदों के पवित्र सामगान से प्रवाहित होकर विभिन्न कालखंडों को पार करती हुई आज के आधुनिक युग तक निरंतर विकसित होती रही है। यह परंपरा भारत की महान सांस्कृतिक विविधता, धार्मिक सहिष्णुता, आपसी सद्भाव और समन्वयवादी दृष्टिकोण का एक जीवंत और शाश्वत उदाहरण प्रस्तुत करती है। प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल, उत्तर मुगलकाल और आधुनिक युग तक राजनीतिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमणों और आर्थिक संकटों के बावजूद इन कलाओं और संगीत ने सम्पूर्ण भारतीय समाज को सांस्कृतिक रूप से एक सूत्र में पिरोए रखा। किंतु वर्तमान समकालीन समय में वैश्वीकरण के प्रभाव, पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण और तीव्र डिजिटल क्रांति के कारण इस परंपरा के सामने नए अवसर और गंभीर चुनौतियाँ दोनों उत्पन्न हो गई हैं।

शोध की परिकल्पना- इस आलेख और अध्ययन के संदर्भ में निम्नलिखित परिकल्पनाएँ निर्धारित की गई हैं:

सांस्कृतिक और मानसिक विकास: ललित कलाएँ (विशेषकर संगीत और चित्रकला) केवल मनोरंजन या अभिव्यक्ति का साधन नहीं हैं, बल्कि यह समकालीन समाज में मानसिक स्वास्थ्य, तनाव प्रबंधन और सामाजिक समरसता के विकास में प्रत्यक्ष और महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

पारंपरिक बनाम आधुनिक तकनीक: यद्यपि वैश्वीकरण और डिजिटल क्रांति के कारण ललित कलाओं के प्रसार में सुगमता आई है, किंतु अत्यधिक व्यावसायीकरण और त्वरित लोकप्रियता की होड़ इनकी शास्त्रीय शुद्धता और मौलिक गहराई के लिए गंभीर चुनौतियाँ उत्पन्न कर रही हैं।

गुरु-शिष्य और अकादमिक समन्वय: पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा की गहनता और आधुनिक अकादमिक शिक्षा प्रणाली की व्यापकता का सफल समन्वय ही ललित कलाओं के दीर्घकालिक संरक्षण और संवर्धन की मुख्य कुंजी है।

ललित कलाओं का विस्तृत स्वरूप एवं अंतःसंबंध- भारतीय परंपरा में ललित कलाओं को मुख्य रूप से पाँच प्रमुख विधाओं में विभाजित किया गया है। इन सभी कलाओं का मूल उद्देश्य मनुष्य के भीतर सौंदर्यबोध (Aesthetic Sense) और संवेदनशीलता का विकास करना है:

वास्तुकला: भारतीय वास्तुकला केवल ईंट-पत्थरों का ढांचा नहीं, बल्कि धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक चेतना का त्रिविमीय दस्तावेज है। हड़प्पा सभ्यता की नगर नियोजन शैली से लेकर उत्तर भारत के नागर शैली के मंदिर, दक्षिण भारत की द्रविड़ शैली और मध्यकाल की वास्तुकला इस बात के प्रमाण हैं कि हमारे पूर्वजों को भौतिक निर्माण में भी सौंदर्य और आध्यात्मिकता का अद्भुत ज्ञान था।

"यथा शिखा मयूरणां नागानां मणयो यथा। तद् वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥"

(अर्थात: जिस प्रकार मोरों के सिर पर शिखा और सर्पों के सिर पर मणि सर्वोच्च स्थान पर होती है, उसी प्रकार सभी कलाओं और शास्त्रों में वास्तुकला व निर्माण का महत्वपूर्ण स्थान है।)

मूर्तिकला : मूर्तिकला के अंतर्गत पत्थरों, धातुओं, लकड़ियों और मिट्टी के माध्यम से त्रि-आयामी रूपों को जीवंत किया जाता है। सिंधु घाटी सभ्यता की 'नर्तकी' की मूर्ति से लेकर मौर्य काल के अशोक स्तंभ, गुप्त काल की प्रस्तर प्रतिमाएं और चोला कांस्य मूर्तिकला (नटराज) तक, यह कला मानव शरीर के अनुपात, आंतरिक भावों और धार्मिक आस्थाओं को अत्यंत सूक्ष्मता से प्रस्तुत करती है।

"रूपभेदः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्। सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्॥"

(अर्थात: रूप भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य योजना, सादृश्य और वर्णिका-भंग—ये छह अंग मूर्तिकला और चित्रकला के प्राण हैं, जो जड़ पत्थर या कैनवास में प्राण फूंक देते हैं।)

चित्रकला: चित्रकला रंगों, रेखाओं और प्रकाश-छाया के माध्यम से विचारों और भावनाओं को दृश्य रूप प्रदान करती है। अजंता और एलोरा की गुफाओं के भित्तिचित्रों से लेकर राजस्थानी, पहाड़ी, मुगल लघु चित्रकला और आधुनिक भारतीय कला तक, चित्रकला ने भारतीय जनजीवन, प्रकृति और पौराणिक कथाओं को कैनवास पर अमर कर दिया है।

"कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामअर्थमोक्षदम्। मांगल्यप्रथमं चैतत् गृहस्य भूषितं सदा॥"

(अर्थात: सभी कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है, जो धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष को प्रदान करने वाली तथा घर की शोभा बढ़ाने वाली होती है।)

संगीत: ललित कलाओं में संगीत को सबसे सूक्ष्म और सर्वोच्च स्थान दिया गया है। स्वर, ताल, लय और रागों का यह संगम सीधे मानवीय भावनाओं को स्पर्श करता है। सामवेद से उद्गम मानकर भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' और शार्ङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' पर आधारित भारतीय शास्त्रीय संगीत (हिंदुस्तानी और कर्नाटक) ने ध्वनि के माध्यम से ब्रह्मांडीय ऊर्जा और आंतरिक शांति का संदेश दिया है।

"गीताद्वाद्यं ततो नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।"

(अर्थात: गायन, वादन और नृत्य—इन तीनों के समन्वित रूप को संगीत कहा जाता है, जो साक्षात् मोक्ष का मार्ग है।)

काव्य कला: शब्दों की अद्भुत संरचना, छंद, अलंकार और रसों की निष्पत्ति के माध्यम से काव्य कला ने मानव चेतना को वैचारिक गहराई दी है। वेदों की ऋचाओं से लेकर कालिदास, तुलसीदास, सूरदास और आधुनिक कवियों की रचनाओं तक, काव्य ने समाज को सत्य, प्रेम, नैतिकता और दर्शन का मार्ग दिखाया है।

"वाक्यार्थं च पदार्थं च काव्यरूपेण बोधयेत्।"

(अर्थात: जो शब्दों और वाक्यों के वास्तविक मर्म को काव्य रूप में प्रकट करे, वही श्रेष्ठ काव्य कला है।)

ऐतिहासिक यात्रा एवं सांस्कृतिक महत्व- भारतीय ललित कलाओं और संगीत की जड़ें अत्यंत प्राचीन हैं, जिनका उद्गम वेदों और वैदिक साहित्यों से माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, यह परंपरा वेदों के पवित्र सामगान से प्रवाहित होकर विभिन्न ऐतिहासिक कालखंडों, राजवंशों और सांस्कृतिक आंदोलनों को पार करती हुई आज के आधुनिक युग तक निरंतर विकसित और पल्लवित होती रही है। समय-समय पर विभिन्न शासकों, संतों, आचार्यों और लोक-नायकों के संरक्षण में इन कलाओं ने नए और गौरवशाली आयाम प्राप्त किए, जिसके प्रमुख चरण निम्नलिखित हैं:

प्राचीन एवं शास्त्रीय काल (वैदिक से गुप्त काल तक): भारतीय कला और संगीत के शास्त्रीय अनुशासन की नींव प्राचीन ग्रंथों द्वारा रखी गई। महर्षि भरत मुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' और आचार्य शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन भारत में कला, रस, भाव, सौंदर्य और अभिनय का विधान कितना वैज्ञानिक और उच्च कोटि का था। इसके साथ ही, वैदिक मंत्रोच्चार और सामवेद की ऋचाओं से विकसित स्वर-साधना ने भारतीय संस्कृति को एक आध्यात्मिक और दार्शनिक आधार प्रदान किया।

मध्यकालीन समन्वय एवं घरानों का उदय: मध्यकाल में राजनीतिक उथल-पुथल और सल्तनत काल के आगमन के बावजूद भारतीय संगीत और ललित कलाओं ने अपनी मूल पहचान को खोया नहीं, बल्कि इसमें एक नया समन्वय देखने को मिला। अमीर खुसरो,

स्वामी हरिदास, संगीत सम्राट तानसेन और सुल्तान हुसैन शाह शर्की जैसे महान संगीतज्ञों एवं संतों ने भारतीय संगीत को नए आयाम दिए, जिससे ख्याल, ध्रुपद, तराना और ठुमरी जैसी समृद्ध शैलियों का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त, विभिन्न क्षेत्रीय शासकों और राजाओं के संरक्षण में संगीत के प्रसिद्ध घरानों (जैसे ग्वालियर घराना, आगरा घराना, किराना घराना और जयपुर-अतरौली घराना आदि) का उदय हुआ, जिन्होंने इस ललित कला को पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक और व्यावहारिक रूप से अत्यंत जीवंत बनाए रखा।

भक्ति और सूफी आंदोलन का सांस्कृतिक योगदान: मध्यकाल में उपजे भक्ति आंदोलन और सूफी संतों ने ललित कलाओं को महलों की चारदीवारी से निकालकर आम जनमानस तक पहुँचाने का ऐतिहासिक कार्य किया। सूफी संतों की मर्मस्पर्शी कव्वालियाँ और भक्ति आंदोलन के संतों (जैसे मीराबाई, सूरदास, चैतन्य महाप्रभु) के पद-कीर्तन इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि कला ने समाज को जोड़ने और प्रेम व सौहार्द का संदेश फैलाने में कितनी बड़ी भूमिका निभाई।

सांस्कृतिक सेतु के रूप में ललित कलाएं: इतिहास के हर उतार-चढ़ाव, आर्थिक संकट और राजनीतिक संघर्ष के दौर में भी ललित कलाओं ने भारत के विभिन्न अंचलों, जातियों, धर्मों और विचारधाराओं के बीच एक मजबूत और अटूट 'सांस्कृतिक सेतु' का कार्य किया है। इन कलाओं ने संपूर्ण भारतीय समाज की बहुलता, विविधता और 'अनेकत्ता में एकता' की भावना को सदियों से अक्षुण्ण और सुरक्षित रखा है।

समकालीन परिप्रेक्ष्य, तकनीकी प्रभाव एवं चुनौतियाँ- आज का युग सूचना प्रौद्योगिकी, सोशल मीडिया और डिजिटल माध्यमों का युग है। इंटरनेट और डिजिटल टूल्स ने ललित कलाओं के प्रसार को वैश्विक बना दिया है। आज दुनिया के किसी भी कोने में बैठकर भारतीय कलाओं और संगीत को सीखा और सराहा जा सकता है।

प्रमुख चुनौतियाँ:

- अत्याधिक व्यावसायीकरण: कलाओं के कमर्शियल होने से उनकी मौलिकता, पवित्रता और शास्त्रीय गहराई पर संकट मंडराने लगा है।
- त्वरित लोकप्रियता की होड़: आज की युवा पीढ़ी में सोशल मीडिया पर रातों-रात लोकप्रिय होने की चाह के कारण गहन साधना और रियाज की प्रवृत्ति कम हो रही है, जिससे सतही कलाओं को बढ़ावा मिल रहा है।
- मौलिक स्वरूप का विकृतीकरण: आधुनिकता, रीमिक्स और फ्यूजन के नाम पर पारंपरिक रागों, शैलियों और कला रूपों के मूल स्वरूप के विकृत होने का खतरा निरंतर बना रहता है।
- संरक्षण और वित्तीय सुरक्षा का अभाव: क्षेत्रीय लोक कलाओं और पारंपरिक कलाकारों को उचित वित्तीय सहायता, सरकारी संरक्षण और बाजार न मिलने के कारण कई प्राचीन विधाएं विलुप्त होने की कगार पर हैं।
- अकादमिक शिक्षा और व्यवहारिकता में दूरी: आधुनिक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम और पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा की व्यावहारिक तालीम के बीच एक बड़ा अंतराल बना हुआ है, जिससे योग्य कलाकारों की सुचारू तैयारी में बाधा आती है।

ललित कलाओं के विभिन्न आयामों, ऐतिहासिक विकास और समकालीन चुनौतियों पर किया गया यह विस्तृत अध्ययन हमारी प्रारंभिक परिकल्पनाओं की पूर्णतः पुष्टि करता है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कलाएँ केवल बाह्य मनोरंजन या सजावट की वस्तुएं नहीं हैं, बल्कि यह मानव समाज की मानसिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक चेतना का जीवंत दर्पण हैं।

आज के इस तीव्र गति वाले, तनावपूर्ण और यंत्रवत जीवन में जहाँ एक ओर मानसिक अवसाद और चिंताएं बढ़ी हैं, वहीं संगीत, चित्रकला और अन्य ललित कलाएं 'आर्ट थेरेपी' और 'म्यूजिक थेरेपी' के रूप में एक सशक्त उपचारक माध्यम बनकर उभर रही हैं। यह अध्ययन इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि उच्च शिक्षण संस्थानों और विश्वविद्यालयों में कला विभागों की भूमिका को केवल पारंपरिक पाठ्यक्रम पूरा कराने तक सीमित नहीं रखना चाहिए। इन संस्थानों को कलात्मक नवाचार, अंतःविषयक शोध (Interdisciplinary Research) और लोक कलाओं के संरक्षण का मुख्य केंद्र बनना चाहिए। यदि समय रहते डिजिटल माध्यमों के नकारात्मक प्रभावों को नियंत्रित कर अकादमिक और पारंपरिक शिक्षा का सुमेल नहीं किया गया, तो हमारी सांस्कृतिक धरोहर अपनी मूल निष्ठा से भटक सकती है।

निष्कर्ष- समग्र अध्ययन के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय ललित कला परंपरा केवल अतीत की धरोहर मात्र नहीं है, बल्कि यह एक सजीव, प्रवाहमान और शाश्वत ऊर्जा है जो वर्तमान समाज को दिशा प्रदान करती है। युग परिवर्तन, वैश्वीकरण और तकनीकी प्रगति के इस दौर में कलाओं के प्रदर्शन, शिक्षण और प्रचार-प्रसार की पद्धतियों में बदलाव आना अनिवार्य और स्वाभाविक है, किंतु इन परिवर्तनों के बीच इसकी मूल आत्मा—यानी रस, भाव, सौंदर्य और आध्यात्मिकता की निष्पत्ति—अपरिवर्तित रहनी चाहिए।

पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा की आन्तरिक गहनता और आधुनिक अकादमिक प्रणाली की बाह्य व्यापकता का सुंदर समन्वय ही इस दिशा में सबसे प्रभावी कदम हो सकता है। भविष्य में शोधकर्ताओं, नीति-निर्माताओं और शिक्षण संस्थानों का यह सामूहिक दायित्व है

कि वे ललित कलाओं के शास्त्रीय अनुशासन को सुरक्षित रखते हुए इन्हें समकालीन समय की माँग के अनुरूप ढालें। तभी कला का यह पावन स्वरूप आने वाली पीढ़ियों के लिए वैचारिक रूप से समृद्ध, मानसिक रूप से स्वस्थ और सांस्कृतिक रूप से अखंड बना रहेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भरत मुनि. (१९५१). नाट्यशास्त्र. चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी.
2. शार्ङ्गदेव. (१९८४). संगीत रत्नाकर (भाग १ व २). संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली.
3. भातखंडे, पंडित विष्णु नारायण. (२००२). हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (क्रमिक पुस्तक मालिका, भाग १ से ६). मिश्रा ब्रदर्स / संगीत कार्यालय, हाथरस.
4. शर्मा, प्रो. प्रेमलता. (२०१५). भारतीय ललित कलाओं का इतिहास. हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.
5. तोमर, प्रो. अंजू. (२०१८). ललित कलाओं का अंतःसंबंध और संगीत. कला प्रकाशन, वाराणसी.
6. Prajnanananda, Swami. (1981). Historical Development of Indian Music: A Critical Study. Firma KLM Private Ltd., Calcutta.
7. Rowell, Lewis. (1992). Music and Thought in Early India. University of Chicago Press.

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

नारीवाद : विकास के विविध चरण

डॉ० अमित कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर - हिन्दी विभाग,
जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल पी०जी० कालेज, बाराबंकी (उ०प्र०)

PP.N0- 25-27 **Received: 18.02.2026** **Accepted:24.02.2026** **Email: amitkrj16@gmail.com**

सारांश: दुनिया की आधी आबादी यानी 'स्त्रियों के साथ होने वाले भेदभाव, अन्याय और पितृसत्ता द्वारा किए जाने वाले दोयम दर्जे के व्यवहार को पहचानकर उनके खिलाफ संघर्ष करना व उन्हें पुरुषों के समान ही सभी तरह के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि अधिकार हासिल करने का प्रयास व संघर्ष' करना नारीवाद कहलाता है। 'नारीवाद' कोई रूढ़ और जड़ विचारधारा नहीं है, बल्कि एक गतिशील, परिवर्तनशील और विकसित विचारधारा है। "नारीवाद महिला उत्पीड़न के विभिन्न मुद्दों को समझने की दिशा में प्रयासरत एक गतिशील और निरन्तर परिवर्तित होने वाली विचारधारा है, जिनमें व्यक्तिगत, राजनीतिक और दार्शनिक पहलू भी शामिल हैं, लेकिन जो एक विचार इन सभी नारीवादी दृष्टिकोणों में समान है कि न्याय के लिए महिलाओं को स्वतंत्रता व समानता दी जानी आवश्यक है लेकिन कई दार्शनिक प्रश्नों पर इनके बीच गहरे मतभेद भी हैं, मसलन, स्वतंत्रता तथा समानता का स्वरूप कैसा हो... मानव स्वभाव (विशेषकर महिलाओं के विषय में) का निर्माण कैसे होता है, जिसे या तो सामाजिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज माना जाता है या जीव वैज्ञानिक रूप से निर्धारित माना जाता है। इसलिए नारीवाद की राजनीतिक रूप से प्रभावित शाखाएं बदलाव के लिए अलग-अलग रणनीतियों में विश्वास रखती हैं, क्योंकि महिला उत्पीड़न के कारणों के विषय में उनका दृष्टिकोण अलग-अलग है।" नारीवाद की अवधारणा की शुरुआत उन्नीसवीं सदी में यूरोप (पश्चिम) में होती है, सर्वप्रथम नारीवाद 'फेमिनिज्म' (Feminism) शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक और काल्पनिक समाजवादी विचारक 'चार्लस फूरियर' ने 1837 ई० में किया था। लेकिन इससे भी पहले 1792 ई० में 'मेरी वाल्स्टनक्राफ्ट' की पुस्तक 'अ विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वुमेन' को नारीवाद की पहली व्यवस्थित सैद्धांतिक कृति माना जाता है। यही वह समय है जब 1789 ई० में फ्रांसीसी क्रांति हुई थी, निसंदेह नारीवाद या स्त्रियों के ऊपर इस क्रांति का प्रभाव पड़ा होगा। स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे पर आधारित फ्रांसीसी क्रांति ने स्त्रियों को भी अपने हालात या स्थिति दोयम दर्जे की अधीनस्थ स्थिति को बदलने के लिए संघर्ष करने को प्रेरित किया होगा।

कुंजीभूत शब्द : पितृसत्ता, सामाजिक, राजनीतिक, महिला उत्पीड़न, नारीवाद, विचारधारा, मताधिकार, परिवर्तनशील

नारीवाद के विकास के कई चरण हैं, सामान्यतः नारीवाद के विकास को कुछ खंडों/चरणों में बांटकर समझा जा सकता है। वैसे तो संगठित रूप से नारीवादी आंदोलन उन्नीसवीं सदी में शुरू होता है, लेकिन अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध से ही नारीवाद या स्त्रियों से संबंधित अधिकारों, न्याय, तथा समानता, स्वतंत्रता को व्यावहारिक और कानूनी आधार पर हासिल करने का प्रयास शुरू हो चुका था। नारीवाद के शुरुआती चरण को एक सैद्धांतिक और वैचारिक आधार प्रदान करने में 'मेरी वाल्स्टनक्राफ्ट' की अ विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वुमेन (1792 ई० में प्रकाशित), 'जॉन स्टुअर्ट मिल' की द सब्जेक्शन ऑफ वुमेन (1869 में प्रकाशित) जैसी पुस्तकों ने बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनका प्रमुख उद्देश्य स्त्री-पुरुष के बीच समानता तथा इसको हासिल करने के लिए कानूनी या विधान में बदलाव के लिए संघर्ष व दबाव डालना था।

"1850 से लेकर 1920 तक चली इस लहर के तहत स्त्रियों ने निजी और सार्वजनिक दायरों में पितृसत्ता के वर्चस्व को चुनौती दी। उन्होंने वोट के अधिकार, शिक्षा तथा रोजगार तक स्त्रियों की पहुंच, संपत्ति पर वैधानिक अधिकार, विवाह और तलाक के अधिकार के लिए संघर्ष किया।"[2]

शुरुआत में नारीवाद स्त्रियों की शिक्षा, उनके रोजगार के अधिकार और वैवाहिक जीवन में आने वाली समस्याओं से मुक्ति हेतु वैधानिक/कानूनी सुरक्षा तक सीमित था। आगे चलकर उन्होंने अपने वोट या मतदान के अधिकार को हासिल करने के लिए आंदोलन और संघर्ष भी किया। "मताधिकार का अधिकार या वोट डालने के अधिकार का प्रश्न खास तौर पर तब उठा जब 'जॉन स्टुअर्ट मिल' ने 1867 के सुधार एक्ट में महिलाओं को भी शामिल करने का प्रयास किया।"[3] वोट के अधिकार को हासिल करने के लिए स्त्रियों को काफी लंबा संघर्ष करना पड़ा। उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के शुरुआत में वोट के अधिकार का मुद्दा तमाम नारीवादी संगठनों के लिए सबसे अहम बन गया था।

1903 में गठित 'वुमन सोशल एंड पॉलिटिकल यूनियन' ने वोट के अधिकार को हासिल करने के लिए काफी जुझारू संघर्ष किया। अंततः वोट का अधिकार काफी लंबे संघर्ष के बाद 1920 में अमेरिका में स्त्रियों को हासिल हुआ। यूरोप के देशों में तो यह अधिकार उन्हें और बाद में मिला। "स्त्रियों को मताधिकार दिलाना महिला आंदोलन के पहले चरण की सुप्रसिद्ध सफलता रही, लेकिन यह सफलता एक

लंबे राजनीतिक संघर्ष के कठिन परिश्रम से ही मिल सकी और वह भी बीसवीं सदी की शुरुआत के काफी बाद संयुक्त राज्य अमेरिका की संसद ने 1919 में महिलाओं को मताधिकार देने के लिए संविधान में संशोधन किया। ब्रिटेन में महिलाओं को मताधिकार 1927 में मिला, जबकि फ्रांस की महिलाओं को इसके लिए 1944 तक इंतजार करना पड़ा।"[4] इस प्रकार 1848 से शुरू नारीवाद का संघर्ष अपने मुख्य उद्देश्य 'वोट के अधिकार' को हासिल करने में लगभग सौ वर्ष का समय ले गया और नारीवाद के पहले चरण का संघर्ष यहां आकर समाप्त होता है।

नारीवादी संघर्ष/आंदोलन के दूसरे चरण की शुरुआत 1960 के दशक से होती है। सामान्यतः नारीवाद का पहला चरण यदि स्त्रियों को वोट के अधिकार और संपत्ति के अधिकार दिलाने के लिए संघर्षरत था, तो इसका दूसरा चरण स्त्रियों का अपने शरीर और प्रजनन के अधिकार या अपनी यौनिकता पर नियंत्रण को लेकर था। नारीवाद के इस दूसरे चरण/लहर को गति और धारदार बनाने में उस समय की महत्वपूर्ण फ्रेंच दार्शनिक और लेखिका 'सिमोन द बोउवार' की प्रसिद्ध रचना द सेकेंड सेक्स का बेहद महत्वपूर्ण योगदान है। साथ ही 'बैटी फ्रीडन' की द फेमिनिन मिस्टिक (1963 में प्रकाशित) रचना ने भी नारीवाद के इस दूसरे उभार को काफी तेज गति दी। "फ्रीडन के विचारों ने स्त्रियों की चेतना जागृति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। खास तौर से पारिवारिक जीवन में असंतुष्ट मध्यवर्गीय गृहिणियों ने उनके विचारों को हाथों-हाथ लिया।"[5]

वास्तव में, उन्होंने स्त्रियों को अपना स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्व या अस्मिता को पाने के लिए अपनी पारंपरिक घरेलू भूमिका और रूढ़ छवि से खुद को मुक्त करने का आह्वान किया था।

नारीवाद के इस दूसरे लहर/चरण की सैद्धांतिकी या विचारधारा को विकसित करने में अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन की भूमिका बहुत ज्यादा है। इस दूसरी लहर को आगे बढ़ाने में जूलिएट मिचेल, एन ओकली, केट मिलेट, सुलामिथ फायरस्टोन, रॉबिन मॉर्गन, जर्मन ग्रीयर आदि को महत्वपूर्ण माना जाता है। "लेकिन इसकी सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं को सही अर्थों में 'सिमोन द बोउवार' ने अपनी 1949 की पुस्तक द सेकेंड सेक्स के माध्यम से वाणी दी। इस कृति में सिमोन ने स्त्री को 'अन्य' बना देने की सांस्कृतिक परंपरा का विश्लेषण किया।

उन्होंने इस तथ्य का उद्घाटन किया कि "स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बना दी जाती है।" सिमोन के विमर्श ने स्पष्ट किया कि समाज में स्त्री की स्थिति को महज जैविकीय, मनोवैज्ञानिक या आर्थिक कारण निर्धारित नहीं करते, बल्कि सभ्यता के समग्र विकास के दौरान ही स्त्री देह को सृजित किया गया है, जिसके परिणामस्वरूप नारीत्व की परिकल्पना निकली है।"[6] इसी विचार को और स्पष्ट करते हुए 'केट मिलेट' की सेक्सुअल पॉलिटिक्स तथा 'फायरस्टोन' की द डायलेक्टिक ऑफ सेक्स जैसी सैद्धांतिक रचनाओं ने काफी ज्यादा प्रभाव डाला। केट मिलेट ने स्त्रियों की 'सेक्सुएलिटी' की पितृसत्ता द्वारा नियंत्रित किए जाने और स्वयं स्त्रियों द्वारा आत्मसात किए जाने की जटिलता को पहचानकर उससे मुक्त होने को स्त्रियों की अधीनस्थ/दोयम दर्जे की स्थिति से मुक्ति या आजादी के लिए अनिवार्य माना है।

"सिमोन की तरह केट ने भी यह माना कि स्त्रियों ने नारीत्व के जिस विचार को आत्मसात कर रखा है, वही उनकी अधीनता का कारण है।"[7] आगे चलकर इस दौर की नारीवादी चिंतकों ने यह माना कि उनकी अधीनता या दोयम दर्जे का कारण व्यक्तिगत न होकर राजनीतिक है जिसकी जड़ें बहुत गहरी हैं और पितृसत्ता का वर्चस्व इनके मूल में है, जिसको स्वयं स्त्रियों ने भी आत्मसात कर रखा है और बिना पितृसत्ता को चुनौती दिए वह अपनी आजादी और बराबरी को हासिल नहीं कर सकती हैं। यही वह समय है जब 'पर्सनल इज पॉलिटिकल' जैसे नारों का प्रयोग नारीवादियों द्वारा किया जाने लगा। नारीवाद के इस दूसरे चरण को 'रेडिकल नारीवाद' के रूप में देखा जाता है।

स्त्रियों के लिए सौंदर्य प्रतियोगिता जैसे आयोजनों का विरोध इन्हीं रेडिकल नारीवादियों द्वारा किया गया। "जूलिएट मिचेल ने अपने आलेख 'वन्स अ फेमिस्ट: स्टोरीज ऑफ जनरेशन' में लिखा: 'हमने यह शिद्दत से महसूस किया कि हम सभी एक ही लक्ष्य के लिए लड़ रहे थे इसलिए हमारा नारीवाद भी एक हो सकता था और स्त्री मुक्ति का सपना भी एक ही रास्ते पर चलते हुए पाया जा सकता था— समान वेतन, समान शिक्षा एवं रोजगार के अवसर, 24 घंटे नर्सरी, मुफ्त गर्भनिरोधक और मुफ्त गर्भपात का अधिकार।'[8]" निसंदेह नारीवाद के इस चरण में अपने संघर्षों और आंदोलनों के बल पर स्त्रियों को अपनी आजादी और समानता के लक्ष्यों को हासिल करने में कामयाबी मिली। साथ ही स्त्रियों की समस्याओं, उनके सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि अनेक अधिकारों और पितृसत्ता के विभिन्न रूपों को समझने तथा उनकी जकड़ से मुक्त होने की बारीकियों को समझने के लिए अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों के विश्वविद्यालयों और अकादमिक जगत में 'स्त्री अध्ययन' (वुमन स्टडीज) जैसे विषयों को पाठ्यक्रम में शामिल किया गया, जिनकी अगले चरण के नारीवादी आंदोलन व संघर्ष को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही।

1970 के दशक में एक बड़ा ही दिलचस्प और अनोखा आंदोलन और मुहिम यूरोप के कुछ प्रमुख देशों में देखने को मिला। यह मुहिम या अभियान 'स्त्रियों के घरेलू काम के लिए वेतन' की मांग के साथ शुरू हुआ। "इस मुद्दे को उठाने का उद्देश्य था कि समाज को यह

मानने के लिए मजबूर किया जाए कि महिलाओं द्वारा घर पर किया गया काम (जिसमें घर संभालना, बच्चों की देखभाल करना इत्यादि काम शामिल हैं) समाज की पुनरुत्पत्ति के लिए निर्णायक है, फिर भी उसे आर्थिक रूप से मूल्यहीन माना जाता है। समाज यह पहले से ही मानकर चलता है कि महिलाओं का घरेलू काम 'मुफ्त' या 'अवैतनिक' काम है।"[9]

नारीवाद के तीसरे चरण/लहर की शुरुआत बीसवीं सदी के अंतिम दशक (नब्बे के दशक) से मानी जाती है। इसमें अलग-अलग नस्ल और वर्ग की महिलाओं की भागीदारी के कारण यह आंदोलन अपने आकार में काफी व्यापक हो चुका था। 'रेबेका वाकर' और 'शैनन लिस' को इस तीसरे चरण के नारीवाद को शुरू करने का श्रेय दिया जाता है।

नारीवाद के इस तीसरे चरण में अश्वेत स्त्रियों की सैद्धांतिकी और वैचारिकी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसी समय 'नाओमी वुल्फ' की प्रसिद्ध रचना द ब्यूटी मिथ 1990 में प्रकाशित होकर आती है। "इस किताब में वुल्फ ने नारीवाद के स्थापित तर्कों का सहारा लेकर साबित किया था कि समाज और संस्कृति नारी-सौंदर्य के असंभव जैसे मानक हासिल करने के लिए मजबूर करते हैं, जिनमें फंस कर वह खुद को खपा बैठती है।"[10] नारीवाद का तीसरा चरण 2010 तक माना जाता है। नारीवाद के चौथे चरण/लहर की शुरुआत 2010 से मानी जाती है, जो अभी भी जारी है। इसमें डिजिटल माध्यम से स्त्रियों ने अपने लिए जगह बनाई है। इस दौरान डिजिटल क्रांति ने समाज के भीतर जबरदस्त परिवर्तन लाया है। इन माध्यमों का उपयोग स्त्रियों ने अपने आप को अभिव्यक्त करने और सशक्त बनाने का भरपूर प्रयास किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रे, सुराजिता: नारीवादी सिद्धान्त: एक तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, पुनर्मुद्रण 2006, पृष्ठ सं०-49.
2. पाठक, सुप्रिया: नारीवाद की पहली लहर, समाज विज्ञान विश्वकोश, संपादक अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, 2016 संस्करण, पृष्ठ सं० 785.
3. वही, ... पृष्ठ सं० 785.
4. जॉन, मैरी: पश्चिम में समकालीन महिला आंदोलन, नारीवादी राजनीति संघर्ष व मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, पुनर्मुद्रण 2006, पृष्ठ सं० 107.
5. पाठक, सुप्रिया: नारीवाद की दूसरी लहर, समाज विज्ञान विश्वकोश, संपादक अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, 2016 संस्करण, पृष्ठ सं० 787.
6. वही, ... पृष्ठ सं० 787.
7. वही, ... पृष्ठ सं० 788.
8. वही, ... पृष्ठ सं० 789.
9. जॉन, मैरी: पश्चिम में समकालीन महिला आंदोलन, नारीवादी राजनीति संघर्ष व मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, पुनर्मुद्रण 2006, पृष्ठ सं० 115.
10. पाठक, सुप्रिया: नारीवाद की तीसरी लहर, समाज विज्ञान विश्वकोश, संपादक अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, 2016 संस्करण, पृष्ठ सं० 790.

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

बुन्देलखण्ड के किसानों की स्थिति, समस्या एवं समाधान

डॉ० धर्मेन्द्र सिंह
प्रभारी प्रधानाध्यापक,
उ० प्रा० वि० लोदीपुर निवादा, हमीरपुर, (उ०प्र०)

PP.N0- 28-31 Received: 20.02.2026 Accepted:01.03.2026 Email: dr.dharmendrasingh1978@gmail.com

सारांश: बुन्देलखण्ड भारतवर्ष के केन्द्र में स्थित है। इसलिये इतिहास में हमेशा इसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। विन्ध्यांचल पहाड़ी से घिरे होने के कारण इसे बुन्देलखण्ड नाम मिला। यहाँ पहाड़ों एवं पत्थरों की बहुतायत है। जल यहाँ की हमेशा एक समस्या रही है, जिसने आज इतना विकराल रूप ले लिया है कि "जल ही जीवन है" नामक उक्ति को यहाँ चरितार्थ होते देखा जा सकता है।

बुन्देलखण्ड में उत्तर प्रदेश के 07 एवं मध्य प्रदेश के 6 से 12 जिले आते हैं। उत्तर प्रदेश के हमीरपुर, जालौन एवं बांदा समतल में हैं और बकाया सभी जिले पहाड़ी इलाकों में आते हैं। अब तक बुन्देलखण्ड में लगभग 4200 किसान आत्महत्या कर चुके हैं। झांसी में भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स एवं दतिया, टीकमगढ़, पन्ना, दमोह एवं सागर आदि में कुछ छोटे उद्योग-धंधे हैं; बकाया बुन्देलखण्ड के जिलों में उद्योग-धंधे न के बराबर हैं। एक समय हमीरपुर जनपद के भरूआ सुमेरपुर को औद्योगिक नगर बनाने का प्रयास हुआ, तब वहां 70 फैक्ट्रियाँ लगायी गयी थीं, लेकिन आज एक-दो को छोड़कर मृतप्राय हैं।

कुंजीभूत शब्द : बहुतायत, विकराल रूप, चरितार्थ, किसान आत्महत्या, अर्थव्यवस्था, मनोभावों, साहूकार, अन्नाप्रथा, संस्थापक

बुन्देलखण्ड में पथरीली जमीन होने के कारण यहाँ कभी उद्योग-धंधों का विकास नहीं हुआ। अतः यहाँ की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि ही है और 70 प्रतिशत व्यक्ति किसानी पर निर्भर हैं। बुन्देलखण्ड लम्बे समय से या एक दशक से लगातार सूखे की चपेट में है। यहाँ किसानों की मौतें आम बात हैं। बुन्देलखण्ड के हालात आज कालाहांडी और विदर्भ जैसे होते जा रहे हैं। ह्यूमन राइट लॉ नेटवर्क के संस्थापक कोलिन गोंसाल्विस बुन्देलखण्ड के किसानों की आत्महत्याओं को आत्महत्या नहीं बल्कि हत्या मानते हैं और कहते हैं कि अगर मैं पड़री में पैदा दलित किसान होता, तो निश्चित ही इन हालातों में नक्सली बन जाता। गोंसाल्विस के मनोभावों से बुन्देलखण्ड के किसानों के हालात समझे जा सकते हैं। प्राचीन समय में बुन्देलखण्ड के बारे में एक कहावत कही जाती थी कि जिस व्यक्ति पर विपत्ति पड़ती है, तो वह बुन्देलखण्ड आता है—

"चित्रकूट में बस रहे रहिमन अवध नरेश। जा पर विपदा परत है सो आवत यह देश॥"

लेकिन आज बुन्देलखण्ड को सहारा देने वाला अन्नदाता खुद बिना अन्न के भूखों मर रहा है। सन 1928 में रॉयल कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में लिखा, "भारतीय कृषक ऋण का बोझ कन्धों पर लेकर जन्म लेता है, ऋणग्रस्तता में पूरा जीवन व्यतीत करता है, ऋण में ही उसका अन्त हो जाता है और वह अपनी सन्तान के लिये ऋण का बोझ छोड़ जाता है।" रॉयल कमीशन की यह रिपोर्ट पूरे देश में बुन्देलखण्ड में सबसे ज्यादा सटीक बैठती है। बुन्देलखण्ड के किसानों के हालात बद से बदतर होने के पीछे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक सभी कारक जिम्मेदार हैं।

गांधी जी ने कहा था कि 'दिल्ली भारत नहीं है, भारत तो गांव में बसता है।' अतः यदि हमें भारत को उन्नत करना है तो गांव की दशा सुधारनी है एवं किसानों को आर्थिक विकास से जोड़ना होगा। उन्होंने एक नारा भी दिया— 'गाँवों की ओर वापस चलो'।

बुन्देलखण्ड का किसान अशिक्षित है, जिसके कारण वह न तो सरकारी योजनाओं तक अपनी पहुंच बना पाता है और न ही सरकारी अनुदान प्राप्त कर पाता है। अशिक्षित होने के कारण वह सरकारी अधिकारी के पास जाने में डरता है और अधिकारी भी किसानों से सीधे बात नहीं करते, क्योंकि उन्हें किसानों के साथ मिलकर काम करने का अभ्यास नहीं है। इसलिए किसान गांव के साहूकारों या बैंक के दलालों के माध्यम से ऋण लेता है। साहूकार का ऋण दिन दूना रात चौगुना बढ़ता है और बैंक का ऋण जब पास होता है तो आधे से अधिक दलाल और बैंक कर्मचारी ले जाते हैं। अन्ततः किसान ऋण के जाल में समा जाता है, क्योंकि परम्परागत खेती एवं सूखे के कारण उसका बीज तक वापस नहीं होता और यही हृदयाघात उसकी मौत का कारण बनता है। अतः किसानों की अशिक्षा एक बहुत बड़ा कारण है।

किसानों की मुख्य समस्याओं में अशिक्षा, कुपोषण, अन्नाप्रथा, ऋणग्रस्तता, सिंचाई के लिये जल का अभाव, समय पर खाद-बीज उपलब्ध न होना, बिचौलियों की समस्या, जलवायु परिवर्तन, परम्परागत खेती, राजनैतिक उपेक्षा, ओलावृष्टि, प्रशासनिक दुर्व्यवस्था जैसी बहुत सारी समस्याएं बुन्देली किसानों के सामने विद्यमान हैं; जिसका विस्तृत अध्ययन एवं विवेचन करते हुए स्थायी समाधान की आवश्यकता है।

बुन्देली किसानों की समस्याएँ: अशिक्षा,ऋणग्रस्तता, सिंचाई के लिए जल का अभाव, अन्नाप्रथा, समय पर खाद-बीज का उपलब्ध न होना, बिचौलियों की समस्या, परम्परागत खेती, वर्ष भर रोजगार उपलब्ध न होना, राजनैतिक उपेक्षा, प्रशासनिक दुर्व्यवस्था।

अशिक्षा— बुन्देलखण्ड में अभी तक शिक्षा के बहुत सारे अवसर सरकारी स्कूलों के रूप में उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि किसान के पास हमेशा पैसों का अभाव रहता है और श्रम के लिए मजदूरों की जरूरत होती है; उसे बिना पैसों के मजदूर अपने बच्चों के रूप में मिल जाते हैं। इस तरह किसानों के बच्चे पैसों के अभाव में अशिक्षित होते चले जाते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी अशिक्षा का माहौल बना रहता है। शिक्षित न होने के कारण किसान के अन्दर आत्मविश्वास की कमी हो जाती है और यही कमी उसकी समस्याओं की शुरुआत बनती है। अशिक्षित होने के कारण वह सरकारी योजनाओं की जानकारी प्राप्त नहीं कर पाता और उनका लाभ कुछ चुने हुए लोग हमेशा लेते रहते हैं। आत्मविश्वास एवं हीनभावना के कारण वह अपनी बात सरकारी अधिकारियों से कहने में डरता है। उसका आत्मविश्वास खासकर सरकारी योजनाओं एवं वित्तीय क्षेत्र में समाप्त हो जाता है। अब उसे अपने काम के लिए किसी की जरूरत पड़ती है और वह व्यक्ति उसकी अशिक्षा एवं मजबूरी दोनों का फायदा उठाता है। बुन्देली किसान अपने गांव को छोड़कर शहरों के बहुत कम सम्पर्क में रहता है या यह कहें कि उसे शहरों से डर लगता है। इसलिए जब उसके पास खाने को कुछ नहीं बचता तब वह मौत को अपने गले लगा लेता है। उसकी अशिक्षा हर जगह उसकी परेशानी का कारण बनती है।

ऋणग्रस्तता— सबको भोजन देने वाला किसान ऋण में पैदा होकर ऋण में मर जाता है। सरकारी नौकरी करने वालों को सरकार छः माह में मंहगाई का आकलन करते हुए सालाना वेतन वृद्धि करती है, लेकिन किसान को किसी तरह का फायदा सरकारी स्तर पर नहीं मिलता। उसे अपनी फसल का मूल्य तय करने का हक भी सरकार नहीं देती। अन्ततः उसे अपने जीवन की छोटी एवं बड़ी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण लेना पड़ता है, ताकि उसका जीवन चलता रहे; लेकिन जीवन जीने के लिए वह जो ऋण लेता है, वही ऋण उसका जीवन समाप्त कर देता है। वह साहूकारों व बैंकों से दो तरह के ऋण लेता है— एक अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताओं जैसे घरेलू खर्च एवं खाद, बीज, पानी आदि के लिए छोटे ऋण, और दूसरा बच्चों की शादी के लिए बड़े ऋण। सामाजिक परम्पराओं के कारण भी उसे कभी-कभी ऋण लेने पड़ते हैं, जैसे मृत्यु के पश्चात किये जाने वाले भोज आदि।

दहेज के बिना बेटी की शादी होना सम्भव नहीं होता, क्योंकि समाज के भय से दोनों पक्ष दिखावे के लिये एवं अपने झूठे सामाजिक स्तर को बनाये रखने के लिये ऋण का सहारा लेते हैं। खेती के अलावा किसान की आय का दूसरा कोई भी स्रोत नहीं होता और फसल किसान को अधिकतर समय धोखा देती है। फसल उसकी भोजन की समस्या तक हल नहीं कर पाती और इस तरह वह साहूकारों से ऋण लेता है। साहूकार का ऋण दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जाता है। अगर कभी फसल ठीक भी हुई, तो उसका पिछला कर्ज इतना होता है कि उसे चुकाते-चुकाते वह खुद चुक जाता है।

ऋण प्राप्त करने की दूसरी जगह बैंक होती है। एन०डी०ए० सरकार ने अपने समय किसानों को सस्ते ऋण उपलब्ध कराने के लिये 'किसान क्रेडिट कार्ड' योजना प्रारम्भ की थी, लेकिन किसानों को कम ब्याज पर कर्ज तो मिलता है, पर यही ऋण उसकी जमीन के साथ-साथ उसे भी खा जाता है। हिन्दुस्तान समाचार पत्र के दिल्ली शाखा के वरिष्ठ सम्पादक प्रताप सोमवंशी कहते हैं कि बुन्देलखण्ड में किसानों के लिये किसान क्रेडिट कार्ड कर्जदार बनाने और जमीन गवाँने का जरिया नजर आया है। ऐसा इसलिये होता है कि किसान को ऋण प्राप्त करने के लिये दलालों का सहारा लेना होता है; अगर उसे बैंक का ऋण चाहिये तो 50 प्रतिशत धन बैंक अधिकारी और दलाल खा जाते हैं, उसे सिर्फ 50 प्रतिशत धन ही प्राप्त होता है। इस धन को चुकाने के लिये जब इसका ब्याज किसान बैंक में जमा करता है तो इस ब्याज को बैंक अधिकारी कहीं दर्ज नहीं करते और इस धन को खा जाते हैं, क्योंकि किसान अशिक्षित होता है। इसलिये वह सही होने के बावजूद अपने ब्याज व धन वापसी का हिसाब नहीं रख पाता; धीरे-धीरे वह ऋण के बोझ में इतना दब जाता है कि उसके पास आत्महत्या के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं बचता। समस्याओं से निजात पाने के लिये कभी-कभी वह अपने बच्चों को भी बेंच देता है। 10 दिसम्बर 2007 में बांदा जनपद में बच्चों को बेंचने का एक मामला प्रकाश में आया था। इसका उल्लेख भारत डोंगरा ने बुन्देलखण्ड की अपनी रिपोर्ट में किया है; बांदा के एक रिक्शा चालक ने, जो पूर्व में किसान था, पैसे के अभाव में अपने दो पुत्रों चन्दन एवं शंकर को बेच दिया था। कई बार किसान अपनी बेटियों को पैसे लेकर उससे दो या तीन गुना उम्र में बड़े लोगों से विवाह कर देते हैं, इसके बावजूद उसका कर्ज उसे मरने पर मजबूर कर देता है।

सिंचाई के लिए जल का अभाव— बुन्देलखण्ड में पानी की अहमियत क्या है? इसका अन्दाजा बुन्देली की एक कहावत से लगाया जा सकता है, जो प्रायः महिलाओं के बीच प्रचलित है। महिलाएं जब पीने का पानी सिर पर रखकर चलती हैं तो वह कहती हैं— "गगरी न छूटै चाहे खसम मर जाए"— पानी के पीछे वह अपने सुहाग तक को न्यौछावर करने की बात करती हैं। जल जीवन का आधार होता है। बुन्देलखण्ड में हमेशा पानी की समस्या रही है। जमीन पथरीली होने के कारण जल का स्तर गिरता जा रहा है। महोबा जनपद में तो पीने का पानी तक बड़ी मुश्किल से उपलब्ध हो पाता है। पानी के अभाव में पशु एवं मनुष्य परेशान रहते हैं। कृषि ही बुन्देलखण्ड का आधार है और कृषि बिना जल के सम्भव नहीं है; जब पीने को पानी उपलब्ध नहीं है, तो उन हालातों में सिंचाई नहीं की जा सकती। लोगों ने सिंचाई के लिए रिंगबोर को साधन बनाने का प्रयास किया, लेकिन लाइट की उपलब्धता न होने के कारण बोर से भी सिंचाई करना सम्भव नहीं हो पाता।

बुन्देलखण्ड के किसानों की इस वर्ष की रबी एवं खरीफ दोनों फसलें सूखे की वजह से बरबाद हो गयी हैं। बुन्देलखण्ड में आज भी सिंचाई का बहुत बड़ा साधन वर्षा का जल है। जंगलों की कटान एवं पथरीली जमीन होने के कारण यहां वर्षा लगातार कम होती जा रही है;

पर्यावरणीय प्रदूषण भी कम वर्षा के लिए जिम्मेदार है। सरकार के द्वारा सिंचाई के लिए जो बांध या चेकडैम बनाए गये हैं, वह भ्रष्टाचार के कारण इतने मजबूत नहीं बने कि वह भारी मात्रा में जल का संचयन कर सकें। पुराने बांधों, जिनमें ज्यादा मात्रा में पानी संचय किया जा सकता है, उसमें नेताओं एवं अधिकारियों की मिलीभगत से मछली पालन कर मोटी रकम कमायी जा रही है। हमीरपुर जनपद के मौदहा बांध में मछलियों के कारण बांध का पानी समय से पूर्व निकाल दिया गया। अगर यह पानी किसान को समय पर उपलब्ध हो जाता तो 80 प्रतिशत किसानों की खेती की बुआई हो सकती थी, लेकिन व्यक्तिगत लाभ के पीछे किसानों की चिन्ता कौन करे? नहरों में आने वाले पानी पर दबंगों का कब्जा होता है, इसलिए छोटे किसान नहर के पानी का प्रयोग समय रहते नहीं कर पाते। प्रशासन भी नहरों की साफ-सफाई एवं सिल्टिंग का कार्य कागज में तो करता है, हकीकत में नहीं। नहरों में इस तरह पानी टेल तक नहीं पहुंचता और जो पानी आता है, वह दबंग लोगों के लिए होता है। इसलिए छोटे किसानों की फसलें चौपट हो जाती हैं। बुन्देलखण्ड में जल का स्तर घटने का बहुत बड़ा कारण नदियों से बालू का अवैध खनन भी है। बुन्देलखण्ड में जल संकट सबसे बड़ा खतरा एवं समस्या है।

अन्नाप्रथा— पिछले एक दशक से बुन्देलखण्ड में एक नयी समस्या ने जन्म लिया, जिसने आज इतना विकराल रूप ले लिया है कि अब हर किसान परेशान है। अन्नाप्रथा के पीछे कुछ जायज कारण हैं तो कुछ नाजायज कारण भी हैं। पहले खेती में बैलों के प्रयोग होने के कारण गाय एवं गाय के बछड़ों की बड़ी भूमिका थी, लेकिन ट्रैक्टर्स से खेती होने के कारण इनकी उपयोगिता समाप्त हो गयी। उपयोगिता समाप्त होने के कारण लोगों ने बछड़ों को अन्ना छोड़ना प्रारम्भ कर दिया और गाय का दूध दुहकर उसे भी अन्ना छोड़ने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ। यह क्रम धीरे-धीरे हर व्यक्ति ने अपना लिया और आज बुन्देलखण्ड में लगभग लाखों जानवर अन्ना घूम रहे हैं। जब किसान अपने दैनिक कार्यों के लिए अल्प समय के लिए घर आता है, तो यह जानवर उसकी फसल चर जाते हैं। संख्या अधिक होने के कारण किसान उन्हें रोक पाने में असमर्थ होता है। बुवाई कम होने के कारण अधिकतर खेत सूखे पड़े रहते हैं और जिन खेतों की बुवाई हो भी जाती है, तो उन्हें अन्ना जानवरों से बचाना बड़ा मुश्किल होता है।

जानवरों को छोड़ने का एक कारण किसानों के पास भूसे एवं चारे का न होना भी है। जब किसान खुद मौत के पंजे से अपने को नहीं बचा पाता, तो वह उन जानवरों को खुला छोड़कर उसकी हत्या के पाप से बचने का प्रयास करता है। इन सब कारणों से किसान अपने खेत से बहुत कम आय प्राप्त कर पाता है और उसकी आय उसके खर्चे के लिए नगण्य होती है। कुछ समय पहले हमीरपुर जनपद में जिला प्रशासन ने पौथिया के पास बनी सिकड़ी श्रमदान में बनी हुई सरकारी मण्डी में अन्ना जानवरों को बन्द करने एवं उनके खाने की व्यवस्था का प्रयास किया, लेकिन 03 दिन में ही लगभग 4 हजार जानवर वहां इकट्ठा हो गये। अन्ततः जिला प्रशासन उनकी व्यवस्था करने में नाकाम रहा और उन जानवरों को छोड़ दिया गया। उन सामूहिक जानवरों के चलने मात्र से ही कई गांव की फसलें बर्बाद हो गयीं और लगभग एक सप्ताह जिले का माहौल खराब बना रहा। अन्नाप्रथा किसानों के लिए अब एक घातक समस्या बन गयी है।

समय पर खाद-बीज उपलब्ध न होना— बुन्देलखण्ड में किसानों को बुवाई के समय खाद एवं बीज उपलब्ध नहीं हो पाता। कुछ किसानों को छोड़कर अधिकतर अपनी बारी का इन्तजार करते रहते हैं और बुवाई का उचित समय निकल जाता है। इससे फसल के उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है और उत्पादन घटकर आधे से भी कम हो जाता है।

बिचौलियों की समस्या— किसान अगर किसी तरह फसल पैदा कर भी लेता है तो उसे उसकी फसल का उचित मूल्य नहीं मिलता क्योंकि किसान को पैसे की सख्त आवश्यकता होती है। इसलिए वह अपनी फसल रोकने की क्षमता नहीं रखता। बिचौलिए इस चीज का फायदा उठाकर उसकी फसल कम से कम दाम पर खरीद लेते हैं और बाद में बिचौलिए उसी फसल को ऊँचे दाम में बेंचकर लाभ कमाते हैं; जबकि यह लाभ किसान का होता है, जो उसे नहीं मिलता।

परम्परागत खेती— बुन्देली किसान अभी भी उन फसलों को पैदा करता है जिसके लिए अधिक जल की आवश्यकता है, जबकि पानी की कमी होने के कारण फसलें प्रायः बर्बाद हो जाती हैं और लगातार एक ही तरीके की फसलें उपजाने से किसान ऊब भी जाता है, तो वह पूरी तन्मयता से खेती का काम नहीं करता। बुन्देलखण्ड में जलवायु परिवर्तन के कारण एकदम से सर्दी के बाद गर्मी प्रारम्भ हो जाती है, जिससे परम्परागत गेहूं की खेती बुरी तरह प्रभावित होती है। यही हाल अन्य फसलों का है। इन कारणों से उत्पादन भी प्रभावित होता है। नयी फसल पैदा करने से एक तो नयापन आता है, जो किसान को ऊर्जा प्रदान कर सकता है। इसलिए परम्परागत खेती को छोड़कर कम पानी में पैदा होने वाली फसलों को उगाने का प्रयास करना चाहिए।

वर्ष भर रोजगार उपलब्ध न होना— किसान को जुताई, बुवाई एवं कटाई में लगभग छः माह का समय लगता है और साल में केवल एक फसल ही पैदा कर पाता है। छः माह का समय वह बेरोजगारी में व्यतीत करता है। उद्योग-धंधे न होने के कारण वह फैक्ट्रियों में दैनिक मजदूरी का काम भी नहीं कर पाता। जो वह पैदा करता है उसी से साल भर उसे अपने खर्च चलाने होते हैं, जो कि वर्ष भर के लिए पर्याप्त नहीं होते; केवल खेती से पूरे वर्ष भर के खर्च कर पाना असम्भव होता है।

राजनैतिक उपेक्षा— भारत के राजनैतिक क्षितिज के उच्च शिखर पर सन् 28 जुलाई 1979 को एक किसान प्रधानमंत्री ने पांचवें प्रधानमंत्री के रूप में पद संभाला। वह किसानों के नेता के रूप में पहले ही अपनी पहचान बना चुके थे। उन्हीं के प्रयासों से सन् 1952 में जमींदारी उन्मूलन विधेयक पास कराया जा सका था। उसके बाद लगातार किसानों के हित में सोचने वाले राजनेताओं का अभाव बना हुआ है। किसानों के प्रति सरकारी उदासीनता का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि वर्ष 1951 में बनायी गयी पहली पंचवर्षीय योजना में राज्य के कुल बजट का 24 प्रतिशत हिस्सा कृषि के लिए खर्च किया गया, जो आज घटकर महज तीन फीसदी रह गया है। प्रत्येक वर्ष लगभग 48 हजार हेक्टेयर उपजाऊ भूमि धुआं उगलते उद्योगों और कंक्रीट के फैलते जंगलों की भेंट चढ़ जाती है। राज्य सरकारें हों या केन्द्र की सरकारें, उन्होंने आज तक किसान को अच्छा जीवन स्तर उपलब्ध नहीं करा पाया है। देश को आज फिर चौधरी चरण सिंह जैसे किसानों के हितैषी प्रधानमंत्री की जरूरत है, जो किसानों के दर्द को महसूस कर सके।

प्रशासनिक दुर्व्यवस्था— केन्द्र सरकार या राज्य सरकार अगर कोई भी कानून या जन-कल्याणकारी योजना बनाती हैं, तो उसे जनता तक पहुंचाने का काम प्रशासनिक अधिकारियों का होता है; लेकिन भ्रष्टाचार में डूबी सरकारों एवं प्रशासनिक अधिकारियों को किसानों की मौतें भी सुधार नहीं पा रहीं, यह उनकी संवेदनहीनता को दर्शाता है। बुन्देलखण्ड का किसान अशिक्षित होने के कारण न तो खुद सरकारी योजनाओं के सम्पर्क में आ पाता है और किसानों से सम्बन्धित योजनाओं को अधिकारी भी उन तक पहुंचाने में असमर्थ रहते हैं; यही अधिकारी उन योजनाओं में आवंटित धन को कुछ चुने हुए लोगों के माध्यम से हड़प कर लेते हैं।

समाधान:

1. किसानों को शिक्षित करते हुए उन्हें सरकारी योजनाओं से अवगत कराया जाए और जागरूकता अभियानों के माध्यम से किसानों के बीच योजनाओं का प्रचार-प्रसार किया जाए।
2. किसानों को कम से कम ब्याज पर ऋण उपलब्ध कराया जाए और वह धन सीधे किसान के खाते में भेजा जाए, जिससे किसानों को कमीशनखोरी से बचाया जा सके।
3. सिंचाई के लिए अधिक से अधिक जल उपलब्ध कराया जाए; इसके लिए नहरों एवं बांधों का पुनर्निर्माण किया जाए एवं सिंचाई परियोजनाओं को विकसित कर हर खेत को पानी उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाए।
4. अन्नाप्रथा की समस्या को दूर करने के लिए प्रत्येक ग्राम पंचायत स्तर में गौशाला खोली जाए और प्रशासनिक देखरेख में उसकी व्यवस्थाएं की जाएं या पहले से संचालित बड़ी गौशालाओं में बुन्देलखण्ड के अन्ना पशुओं को समाहित करने की योजना बनाई जाए। इसके अलावा प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने जानवर बांधकर अन्ना पशुओं की संख्या कम कर सकता है।
5. किसानों को समय पर खाद-बीज उपलब्ध कराने की योजना निचले स्तर पर तैयार की जाए।
6. फसल की खरीद के लिए किसान से सीधे फसल खरीदने की योजना बनाई जाए, जिससे बिचौलियों को प्राप्त होने वाला लाभ किसान के पास तक पहुंच सके।
7. किसानों को सरकार द्वारा सम्मानित करने के लिए निचले स्तर से लगाकर राष्ट्रीय स्तर के पुरस्कारों की व्यवस्था की जाए ताकि किसान भी अपने को सम्मानित महसूस कर सके।
8. केरल मॉडल अपनाते हुए छोटी जोतों में सब्जियाँ, फूलों, और कम लागत व कम पानी की फसलों को उपजाया जाए।
9. बांदा के देवराज जैसे किसानों को किसानों के रोल मॉडल के तौर पर प्रस्तुत करते हुए, उनके साहस को किसानों के आत्मविश्वास जगाने के लिए प्रयोग किया जाए और ऐसे किसानों के कार्यों को प्रचारित एवं प्रसारित किया जाए ताकि किसान के अन्दर आत्मबल पैदा हो सके और उन्हें आत्महत्या करने से बचाया जा सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. www.bundelkhand.in
2. कुरुक्षेत्र, दिसम्बर-2013, अंक-2.
3. हिन्दुस्तान दैनिक समाचार पत्र, 25 फरवरी 2013.
4. दैनिक जागरण समाचार पत्र, 26 जनवरी 2012.

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

प्रेमचंद के उपन्यासों में स्त्री चेतना

मुकेश पुवारे
शोध अध्येता, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

PP.N0- 32-34 **Received: 22.02.2026** **Accepted:02.03.2026** **Email: mukeshpuware@gmail.com**

सारांश: भारतीय समाज में नारी की स्थिति परिवर्तनशील रही है, कभी उसे दासी समझकर उसकी अवहेलना की है, तो कभी समाज ने उसकी प्रशंसा की है। भारत में नारी की स्वतंत्रता और जागरण संबंधी आंदोलन आरंभ हुए और नारी में स्व की भावना जागृत होने लगी। अब वह अपनी अस्मिता को जानने लगी। वे अब स्वयं संघर्ष करती है और अधिकारों को प्राप्त करती है। प्रेमचंद के उपन्यासों में स्त्री के विविध आयाम दिखाई देते हैं। स्त्री के जीवन से जुड़ी समस्याएं, संघर्ष, स्वावलंबन, स्वतंत्रता, अधिकार, चेतना, अस्मिता और अस्तित्व आदि स्त्री चेतना के कई रूप आते हैं। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में समाज की स्त्री समस्याओं को प्रस्तुत किया है।

कुंजीभूत शब्द : स्त्री चेतना, संघर्ष, अस्मिता, अस्तित्व, समाज, स्वावलंबन, स्वतंत्रता, अधिकार, भारतीय समाज, संकल्प

चेतना से तात्पर्य ऐसी ज्ञानमूलक मनोवृत्ति, जिसमें जीव आंतरिक अनुभूतियां और बाह्य घटनाओं के तत्वों से अनुभव प्राप्त कर ऐसी स्थिति में आ जाते हैं, कि बुरे परिणाम या बातों से बचकर अच्छी बातों की ओर प्रवृत्त हो सकें। सोच-समझकर किसी बात की ओर ध्यान देना या सुविचार ही चेतना है। चेतना मानव की प्रमुख विशेषता है; चेतना के बिना मनुष्य जीवित नहीं बल्कि मृत के समान है। चेतना से ही हमारा जीवन गति व विकास करने की शक्ति लेता है। चेतना जागरूकता लाने में अहम भूमिका निभाती है। यह कह सकते हैं कि "चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात वस्तुओं, विषयों, व्यवहारों का ज्ञान।" इस तरह हम कह सकते हैं कि चेतना व्यक्ति की वह केंद्रीय शक्ति है जो अनुभूति, विचार, चिंतन, संकल्प, कल्पना आदि क्रियाएं करती है।

भारतीय इतिहास में स्त्री का स्थान सर्वोच्च रहा है। उस समय नारी शिक्षा और आत्मविश्वास के मामले में पुरुष के बराबर थी। एक मानवीय इकाई के रूप में सभ्यता और संस्कृति के सर्वांगीण विकास में स्त्रियों को योग्य स्थान प्राप्त था। विधि कर्मकांड में स्त्री को आगे रखा जाता था। बालिकाओं की गतिविधियों पर अंकुश नहीं लगा था। उस काल में गार्गी, अनुसूया और मैत्रेयी आदि स्त्रियां शास्त्रार्थ करती थीं। वैदिक काल के पश्चात स्त्री की स्वतंत्रता पर रोक लगा दी गई। अब वे समाज, घर-परिवार में उपेक्षित और प्रताड़ित थीं। उन्हें केवल उपभोग की वस्तु समझा जाने लगा। यह वही भूमि थी जहां दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी जैसी देवियां और मैत्रेयी, गार्गी, अपाला, लोपामुद्रा जैसी विदुषी नारियां जन्मीं; "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" का उद्घोष कहीं गुम हो चुका था। इसी संदर्भ में अरविंद जैन लिखते हैं— "सामंती व्यवस्था में नारी एक वस्तु है, संपत्ति है, संभोग और संतान की इच्छा पूरी करने वाली मादा है।"

पुरुष प्रधान समाज में वर्षों से पुरुषों का प्रभुत्व रहा है। स्त्रियों को लंबे समय तक अनेक अधिकारों से वंचित रखा गया। मान-मर्यादा के बंधनों में बांधकर अनुशासित जीवन जीने को विवश किया। उन्हें स्वयं निर्णय लेने का अधिकार भी नहीं था। परंतु जब स्त्रियां अपनी कारुणिक दशा पर प्रश्न करने लगीं, अपने हक और दायित्व की बात करने लगीं, अपने अस्तित्व को शक्तिशाली रूप से सम्मुख रखने लगीं, तब पुरुष प्रधान समाज में प्रश्न खड़े होने लगे। सिमोन द बोउआर के अनुसार, "स्त्री पुरुष प्रधान समाज की कृति है। अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए पुरुष उसे जन्म से ही अनेक नियमों के सांचे में ढालता चला गया, जहां उसका व्यक्तित्व दबता चला जाता है।"

उपन्यासकार प्रेमचंद ने नारी की न सिर्फ दयनीय स्थिति को अपनी रचनाओं में उद्धृत किया, बल्कि नारी और पुरुष के समान अधिकार की बात भी कहते हैं। उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाओं में स्त्री जीवन के भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, धार्मिक और सांस्कृतिक समस्याओं को अभिव्यक्त किया। स्त्री की अस्मिता, जीवन संघर्ष, दुःख-दर्द तथा अत्याचार के प्रति विद्रोह करने तथा स्त्री चेतना को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उनके उपन्यासों के नारी पात्र दीन-दुखी तो हैं ही, वे सशक्त भी हैं; वे अपने साथ होने वाले अन्याय, अत्याचार के खिलाफ लड़ने में सक्षम भी हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में स्त्री को अबला-सबला दोनों रूपों में चित्रित किया है। उन्होंने स्त्री को दुर्बल नहीं, बल्कि सशक्त और सफल बनाया। डॉ. सुरेश सिन्हा कहते हैं— "जिस नए युग में नारी के ऊपर से उस भौंडे, कृत्रिम और अविश्वास पूर्ण आवरण को उतार कर जिसे प्रेमचंद पूर्व काल के उपन्यासकारों ने अपनी तथाकथित आदर्शवादी एवं सुधारवादिता के जोश में आकर पहना दिया था और जिसके फलस्वरूप नारी का स्वरूप बोझिल ही नहीं हो गया था, आडंबरपूर्ण और अविवेकपूर्ण सा प्रतीत होने लगा था; नारी की आत्मा को उसकी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ प्रेमचंद ने पहली बार यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।"

मातादीन अपनी रखेल चमारिन सिलिया को जब घर से बाहर कर देता है, तब सिलिया को धनिया अपने घर में पनाह देती है। देवर हीरा ईर्ष्यावश गाय को जहर दे देता है, तब वह होरी की झूठी गवाही का विरोध करती है; वह गाय के हत्यारा चाहे उसका देवर क्यों न हो, उसे थाने भिजवाने की बात करती है। वह कहती है- "सबेरा होते ही लाला को थाने नहीं पहुंचा दूं तो असल बाप की नहीं।" पुलिस और गांव के पंच होरी से घूस मांगते हैं, परंतु धनिया निर्भीकता से विरोध करती है। होरी जब अंगोछे में पैसे लेकर दरोगा की ओर बढ़ता है, तभी धनिया साहस के साथ रुपये को उसके हाथ से झटके के साथ छुड़ा लेती है; झटका के कारण सारे पैसे जमीन पर गिर जाते हैं और वह गुस्से में कहती है- "यह रुपए कहां लिए जा रहा है, बता? भला चाहता है तो सब रुपए लौटा दे, नहीं कहे देती हूं।" वही पुत्र गोबर विधवा झुनिया को

अपने घर ले आता है और अपने घर के दरवाजे पर छोड़कर शहर चला जाता है; परंतु धनिया समाज और बिरादरी के नियम-कानून किसी की परवाह किए बिना साहस के साथ झुनिया को अपने घर में शरण देती है। इस बात से नाराज गांव के पंचों ने होरी पर सौ रुपये तथा बीस मन अनाज दंड किया, परंतु धनिया बिरादरी से निकाल दिए जाने की धमकियों से नहीं डरती तथा पंचों के अन्याय और दंड का विरोध करते हुए धनिया कहती है- "पंचो! गरीबों को सता कर सुख न पाओगे। इतना समझ लेना हम मिट जायेंगे कौन जाने इस गांव में रहें या न रहें, लेकिन मेरा सराप तुमको भी जरूर ही जरूर लगेगा।" धनिया साहसी और निडर है। सत्य और न्याय से कभी उसने समझौता नहीं किया। वह प्रारंभ में ही अपने पति होरी को जमींदार की खुशामद करने से रोकती है, वह जमींदारों का विरोध करती है। उसका मानना है कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं तो वह अपना लगान लेगा, उसकी खुशामद हम क्यों करें; उसके तलवे क्यों सहलाएं जब जमींदार की खुशामद करने पर भी उसकी हालत अन्य किसानों से बेहतर नहीं है तो हम उनकी इतनी खुशामद क्यों करें।

प्रेमचंद 'कर्मभूमि' उपन्यास की पात्र सुखदा के माध्यम से स्त्री चेतना को एक नई दिशा प्रदान करते हैं। वह साहसी, स्वाभिमानी, आत्मविश्वासी है। सुखदा समाज एवं परिवार में मौजूद प्रश्नों को गंभीरता और दृढ़ता के साथ उठाती है। वह स्त्री-पुरुष के लिए समान व्यवहार की समर्थक भी है। वह समाज में देखती है कि महिला को पुरुषों से हीन समझा जाता है, महिलाओं को कोई अधिकार नहीं है; यह सोचती हुई कहती है— "समाज और धर्म के सारे बंधनों को तोड़ कर फेंक दे। ऐसे आदमियों की सजा यही है कि उनकी स्त्रियां भी उन्हीं के मार्ग पर चलें। तब उनकी आंखें खुलेंगी और उन्हें ज्ञात होगा कि जलना किसे कहते हैं। एक मैं कुल मर्यादा के नाम से रोया करूं, लेकिन यह अत्याचार बहुत दिनों तक न चलेगा। अब कोई इस भ्रम में न रहे कि पति चाहे जो करे उसकी स्त्री उसके पांव धोकर पियेगी, उसे अपना देवता समझेगी, उसके बाद अब आएगी और वह उसे हंसकर बोलेगा, तो अपने भाग्य को धन्य मानेगी। वह दिन अब गए।" प्रेमचंद स्त्री को अन्याय के प्रति विद्रोही बनाकर उसे पूर्ण स्वतंत्र बनाना चाहते हैं। वह इतनी बुद्धिमती है कि उसने एकांकी कुत्सित बेड़ियों को छिन्न-भिन्न कर अपने लिए एक अलग कार्यक्षेत्र का निर्माण कर लिया है। वह खुद को पुरुषों से कुछ कम स्वाधीन नहीं समझती। वह इतनी प्रबुद्ध है कि अपने को पराधीन बनाए जाने की साजिश को अच्छी तरह समझती है। जो बर्बर और अन्यायी हैं, अब ऐसे पुरुषों की दासी बनकर उनके बताए मार्ग पर चलना नहीं चाहती। इसी तरह नैना भी सेवापरायण स्त्री पात्र है, वह दीन-दुखियों की सेवा करना ही सबसे बड़ा धर्म मानती है। जब वह देखती है कि मिल के मजदूरों को जमीन देने के विषय को लेकर हड़ताल हो रही है, तथा उसके ससुर और पिता का दमन चक्र चल रहा है और कोई भी नेतृत्व करने वाला नहीं होता है, तब वह क्रांतिकारी की तरह आगे बढ़ती हुई स्वयं झंडा उठा लेती है। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने अंग्रेजी शासन के विरोध में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी आगे किया है। 'कर्मभूमि' उपन्यास की एक ग्रामीण बुजुर्ग स्त्री पात्र सलोनी है। बुजुर्ग होते हुए भी उसके मन में आजादी एवं अधिकार के प्रति युवाओं से भी अधिक जोश एवं जुनून है। गांव के जमींदार महंत जी ठाकुरद्वारे के उत्सव की पूर्ति के लिए बराबर लगान वसूल करते थे; लगान इतना बढ़ गया कि सारी उपज लगान के बराबर भी न पहुंचती थी। गांव वाले तंग आकर जमींदार के सामने फरियाद करने का निर्णय करते हैं। गांव के चौधरी गूदड़ भी इसके लिए तैयार हो जाते हैं; वे कहते हैं कि यदि महंत जी लगान माफ करते हैं, तो ठीक, नहीं तो मजदूरी करने के अलावा कोई उपाय नहीं। जहां गांव के सारे पुरुष जमींदार के शोषण के आगे हार जाते हैं, वहीं वृद्धा सलोनी गांव वालों के अधिकारों की रक्षा करने की पहल करती हुई कहती है- "खेत क्यों छोड़ें? बाप-दादों की निशानी है, उसे नहीं छोड़ सकते। खेत पर परान दे दूंगी। एक था, तब दो हुए, तब चार हुए, अब क्या धरती सोना उगलेगी।" जैसा कि प्रेमचंद की विशेषता रही है कि उनके उपन्यास के पुरुष पात्र जब भी कमजोर पड़कर अत्याचार के सामने घुटने टेकते हैं, तब उनकी नारी पात्र ऐसी विकट परिस्थितियों का बहुत ही निडरता के साथ सामना करती हैं एवं सफलतापूर्वक अपने अधिकारों की रक्षा करती हैं।

'रंगभूमि' की सोफिया दबंग स्त्री पात्र है जो राजनीति में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलती है। प्रेमचंद स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ समझते थे और इसी में स्त्री-पुरुष का कल्याण समझते थे। 'सेवासदन' उपन्यास की नायिका सुमन की इच्छाओं और स्वाभिमान ने भले ही उसे पतन की ओर अग्रसर कर दिया, परंतु वही सुमन अपने त्याग एवं सेवा धर्म से समाज में एक नयी दिशा प्रदान करती है। सुमन को गजानंद अनाथालय की संचालिका बनाता है, जिसमें अधिकांश वेश्याओं की पुत्रियां रहती हैं। वह अपने पूरे तन-मन से बच्चियों की सेवा करती है। गजानंद सुमन के इन आंतरिक गुणों की प्रशंसा करते हुए कहता है- "मैंने बहुत ढूंढा, पर कोई ऐसी महिला न मिली जो यह काम प्रेम भाव से कर सके। वात्सल्य के बिना यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। ईश्वर ने तुम्हें ज्ञान-विवेक दिया है। तुम्हारे हृदय में दया है, करुणा, वात्सल्य है, धर्म है और तुम ही इस कर्तव्य का भार संभाल सकती हो।" प्रेम, त्याग, सेवा भावना, दया, करुणा आदि गुणों की अपेक्षा स्त्री से ही की जा सकती है। स्त्री के यही गुण पुरुषों को सही मार्ग पर लाते हैं। 'निर्मला' उपन्यास की स्त्री पात्र कल्याणी कहीं-कहीं अपने विद्रोही रूप में दिखाई देती है। वह अपने पति उदयभानु लाल से अधिक सुलझी एवं दूरदर्शी महिला है, किंतु उदयभानु को पुरुष होने का अहम हावी रहता है, वह अपनी पत्नी की कोई बात नहीं मानता है। उसकी बातों की अवहेलना करता हुआ कहता है कि- "ऐसे मर्द होंगे जो औरतों के इशारों पर नाचते होंगे।" कल्याणी उनकी इन धमकियों के आगे सिर नहीं झुकाती, बल्कि उसका विरोध करते हुए कहती है- "तो ऐसी स्त्रियां भी होंगी जो मर्दों की जूतियां सहा करती हैं।" प्रेमचंद के उपन्यासों की स्त्री पात्र दबी-कुचली एवं खुद को पति की दासी बनकर रहने वाली नहीं, बल्कि शोषण एवं अन्याय के विरुद्ध खड़ी होने वाली सशक्त नारी हैं।

'प्रतिज्ञा' उपन्यास की नारी पात्र सुमित्रा है जो पति से अधिक बुद्धिमान, सुंदर एवं शिक्षित है, परन्तु उसका पति उसका शोषण करता है, उस पर शासन चलाता है, उसे अपने पैर की जूती के बराबर समझता है; खुद तो निठल्ला घूमता है और पत्नी से उम्मीद करता है कि वह उसकी आज्ञा का पालन करे, एक पतिपरायण हिंदू स्त्री की भांति उन आदर्शों पर चले। सुमित्रा कहती है कि- "मैं तो आप ही कहती हूं भाई! स्त्री पुरुष के पैरों की जूती के सिवाय और कुछ है ही क्या? पुरुष चाहे जैसा हो, चोर हो, ठग हो, व्यभिचारी हो, शराबी हो, स्त्री का धर्म है कि उसकी चरण रज धोकर पीये। मैंने कौन सा अपराध किया है, जो उन्हें मनाने जाती, जरा यह भी तो सुनूं।" सुमित्रा के इस व्यंग्य के माध्यम से स्त्री जीवन की सम्पूर्ण विषमताओं की झलक देखने को मिल जाती है।

इसी प्रकार 'गबन' उपन्यास की जालपा का नाम आता है। जालपा का पति रमानाथ भय एवं पैसों के लालच में आकर झूठी गवाही दे देता है, जिससे कुछ निर्दोष लोगों को फांसी की सजा सुना दी जाती है। जालपा को जब इस घटना के बारे में जानकारी होती है, तो वह अपने पति रमानाथ की भर्त्सना करती है और उसके द्वारा झूठी गवाही के माध्यम से कमाई गई रकम को ठोकर मारकर उन परिवारों की देख-भाल दिन-रात करने लगती है, जिन परिवारों का चिराग उसके पति के कारण बुझ गया था। जालपा का त्याग, समर्पण एवं सेवा भाव देखकर रमानाथ चकित हो जाता है और उसके द्वारा दी गई झूठी गवाही का सच अदालत के सम्मुख बताने को राजी हो जाता है। जालपा के हृदय में रमानाथ के प्रति प्रेम, समर्पण तथा उन निर्दोष एवं गरीब परिवारों के प्रति दया भाव तथा सेवा का अंतर्द्वंद्व हमें उस समय देखने को मिलता है, जब वह जोहरा से कहती है- "मैं अदालत को ऐसा सबूत दे सकती हूं कि फिर मुखबिर के शहादत की कोई हकीकत ही नहीं रह जायेगी, पर मुखबिर को सजा से नहीं बचा सकती। बहन, इस दुविधा में पड़ी नरक का कष्ट झेल रही हूं। न यही हो सकता कि इन लोगों को मरने दूं और न यही हो सकता कि रमा को आग में झोंक दूं।" अंततः जालपा अपने प्रेम, समर्पण एवं त्याग के कारण निर्दोष परिवारों एवं पति दोनों को बचा लेती है।

इसी उपन्यास की एक अन्य नारी पात्र जोहरा का त्याग एवं प्रेम भी प्रशंसा योग्य है। वह एक वेश्या थी, परन्तु अपने प्रेम एवं समर्पण से वह पाठकों के मन में अमिट छाप छोड़ जाती है। कलकत्ता की पुलिस जोहरा को रमानाथ का मनोरंजन करने के लिए बंगले पर लाती है, परन्तु धीरे-धीरे दोनों के बीच प्रेम हो जाता है और जोहरा रमानाथ की प्रेमिका बन जाती है। वह रमानाथ की कमजोरी नहीं, बल्कि ताकत बनती है। वह जालपा का पता लगाती है और अदालत में रमानाथ को बेगुनाह साबित करती है। जोहरा की वजह से ही रमानाथ पुनः अपने परिवार के साथ खुशहाल जीवन जी सका। वह जालपा एवं रमानाथ के परिवार का हिस्सा बन जाती है और उनकी सेवा करते हुए रमानाथ के प्रति अपने निष्काम प्रेम को निभाती है। जोहरा के त्याग एवं समर्पण के संदर्भ में प्रेमचंद लिखते हैं- "जोहरा ने अपनी सेवा, आत्मत्याग और सरल स्वभाव से सभी को मुग्ध कर लिया था। उसकी सारी कामनाएं, सारी वासनाएं सेवा में लीन हो गयीं।" प्रेमचंद स्त्रियों को पुरुषों से श्रेष्ठ मानते थे और इसी में वे स्त्री-पुरुष का कल्याण समझते थे।

आज भारतीय समाज स्त्रियों को सशक्त बनाने की जिस क्रांतिकारी दौर से गुजर रहा है, उस स्त्री को प्रेमचंद बहुत पहले ही सशक्त कर चुके थे। प्रेमचंद नारी को समाज में वह जैसी है बिल्कुल उसी रूप में दिखाते हैं। वहां नारी को अबला, सबला और विद्रोही सभी रूपों में दिखाते हैं। इस तरह प्रेमचंद नारी समस्या को यथार्थ रूप में दिखाकर उसे सशक्त बनने को प्रेरित करते हैं।

उद्देश्य:चेतना का अर्थ बताते हुए, स्त्री चेतना का दर्शन कराना। स्त्री चेतना स्वस्थ समाज के लिए अति आवश्यक है। एक मानवीय इकाई के रूप में सभ्यता और संस्कृति के सर्वांगीण विकास में स्त्रियों की भागीदारी समाज के लिए महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद के उपन्यासों के स्त्री पात्रों के माध्यम से स्त्री विमर्श के विभिन्न आयामों से परिचित कराना इस आलेख का मुख्य उद्देश्य है।

निष्कर्ष- प्रेमचंद ने स्त्री जीवन के विभिन्न गतिविधियों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। स्त्रियों की दयनीय स्थिति का चित्रण कर उन्हें ऊपर उठने के लिए नई दिशा व सोच दी है। उन्होंने पहले स्त्री की समस्याओं का चित्रण किया, परंतु धीरे-धीरे स्त्री का मुखर, विकासात्मक एवं जागरूक रूप दिखाई देता है। वे समाज की रूढ़ियों का खुलकर विरोध करती हैं, वहीं राजनीति में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती हैं। प्रेमचंद का मूल मकसद स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं का बोध करा कर, उन्हें सचेत एवं जागरूक करना था ताकि वे अपने सम्मान की लड़ाई खुद लड़ सकें।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिंदी साहित्य कोश- भाग १, पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ संख्या २४७, ज्ञान मंडल लिमिटेड, २००७।
2. अरविंद जैन, औरत होने की सजा, पृष्ठ संख्या- २०।
3. सिमोन द बोउआर- द सेकेंड सेक्स।
4. सिन्हा, डॉ. सुरेश, उपन्यासकार प्रेमचंद, लेख: 'प्रेमचंद और उनकी नायिकाएं', पृष्ठ संख्या- १४५।
5. वही, पृष्ठ संख्या- ८९।
6. प्रेमचंद, गोदान, प्रकाशक मनोज पब्लिकेशन्स बुराड़ी, दिल्ली, पृष्ठ संख्या- ८४।
7. वही, पृष्ठ संख्या- ९९।
8. प्रेमचंद, कर्मभूमि, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या- १६८।
9. वही, पृष्ठ संख्या- १७७।
10. प्रेमचंद, सेवासदन, भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार, नई दिल्ली, २०१६, पृष्ठ संख्या- २१८।
11. प्रेमचंद, निर्मला, रवि पब्लिकेशन्स मेरठ, पृष्ठ संख्या- १८।
12. प्रेमचंद, प्रतिज्ञा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण १, २०१६, पृष्ठ संख्या- २४।
13. प्रेमचंद, गबन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रकाशक २०१९, पृष्ठ संख्या- २११।
14. वही, पृष्ठ संख्या- २२८।

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

भारत के स्वाधीनता संग्राम में कुमाऊँ की महिलाओं का योगदान

प्रियंका पाण्डे
शोध अध्येत्री, राजनीति विज्ञान विभाग,
सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा (उत्तराखंड)

PP.N0- 35-37 **Received: 25.02.2026** **Accepted:05.03.2026** **Email: Archanalohani09@gmail.com**

सारांश: भारत के स्वाधीनता संग्राम में उत्तराखंड के कुमाऊँ से महिलाओं ने पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर तथा कहीं-कहीं अग्रणी बनकर अपनी कर्मठता, साहस, जुझारूपन व सतत संघर्षशीलता का परिचय दिया। प्रारंभ में महिलाओं के लिए आंदोलन में प्रत्यक्ष रूप से जुड़ पाना आसान नहीं था, क्योंकि समाज में रूढ़िवादिता अपनी चरम सीमा पर थी; किंतु 14 जून 1929 को गांधी जी व कस्तूरबा गांधी के कुमाऊँ आगमन से महिलाओं की राष्ट्रीय आंदोलन में भागीदारी को बढ़ावा मिला, महिलाएं जुलूस व सभा में शामिल हुई। यहीं से कुमाऊँ में महिला आंदोलन की शुरुआत हुई। अधिकांश पुरुष नेतृत्वकर्ता जब जेल में थे, तब महिलाओं ने ही आंदोलन के नेतृत्व की बागडोर संभाली। पहाड़ की महिलाओं ने अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी आजादी के आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटिश सरकार के उत्पीड़न के खिलाफ आंदोलन के साथ-साथ सार्वजनिक सभाएं कीं, विदेशी शराब व सामान बेचने वाली दुकानों पर धरना दिया, खादी बेची व राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया; जिसमें विशनी देवी शाह, दुर्गा देवी पंत, तुलसी देवी, शांति देवी पंत, कुंती वर्मा, मंगला देवी, जीवंती देवी, शकुंतला देवी, रेवती देवी, पद्मा देवी, भक्ति देवी आदि महिलाएं विशेष रूप से सक्रिय रहीं। नमक सत्याग्रह के दौरान नैनीताल में विमला, जानकी, भागीरथी, शकुंतला, सावित्री व पद्मा जोशी महिलाएं विशेष रूप से सक्रिय रहीं। आंदोलन में महिलाओं के बढ़ते योगदान को दबाने के लिए 1932 में राज्य की 8 महिलाओं को फतेहगढ़ जेल तथा पद्मा जोशी को लखनऊ जेल भेजा गया, और कुंती वर्मा को जिंदा या मुर्दा पकड़ने का आदेश जारी किया गया। इस राष्ट्रीय आंदोलन में न सिर्फ महिलाएं शामिल हुई; अपितु अंग्रेजों की नृशंसतापूर्ण कार्यवाही का दृढ़तापूर्वक सामना भी किया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे कोमल जरूर हैं, परंतु कमजोर नहीं हैं।

कुंजीभूत शब्द : स्वाधीनता संग्राम, संघर्षशीलता, रूढ़िवादिता, भागीदारी, सत्याग्रह, स्वतंत्रता, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियां।

कुमाऊँ में आजादी के आंदोलन में महिलाओं ने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से अहम भूमिका निभाई। हालांकि कुमाऊँ की महिलाओं का आजादी के आंदोलन में प्रारंभ में प्रत्यक्ष योगदान संभव न था, क्योंकि एक तो सामाजिक रूढ़िवादिता अपनी चरम सीमा पर थी, दूसरा कुमाऊँ के ग्रामीण इलाके चेतना से कोसों दूर थे, एवं महिलाओं की जागृति में अशिक्षा प्रमुख रोड़ा बनी हुई थी। सामाजिक स्थिति अत्यंत दयनीय थी; समाज में बाल विवाह, बहु-विवाह, पर्दा प्रथा आदि कुरीतियां विद्यमान थीं। उन्हें समाज में अपमान व शोषण का सामना करना पड़ता था। विधवाओं की स्थिति और भी दयनीय थी, उन्हें सामाजिक कार्यों तक में शामिल होने की इजाजत नहीं थी; समाज उन्हें हेय दृष्टि से देखता था।

गांधी जी के कुमाऊँ आगमन के बाद यहां की महिलाओं में चेतना का विकास हुआ और महिलाओं ने आजादी की लड़ाई में मुख्य भूमिका निभाई। डॉ. सावित्री का मत है कि गांधी जी देश के अन्य भागों की तरह 1915 में हरिद्वार आए। उनके अल्मोड़ा आने की खुशी में, आगमन से पूर्व ही गांधी निधि के लिए जिला अल्मोड़ा की महिलाओं ने चंदा पहले ही एकत्रित कर लिया, जिसके संबंध में 'शक्ति' 8 जून 1929 को लिखता है कि महिलाओं ने आर्थिक सहयोग दिया। नैनीताल में गांधी जी के आगमन पर भव्य स्वागत जुलूस निकाला गया; यह अब तक का सबसे विशाल जुलूस था, जिसमें पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या अधिक थी। गांधी जी ने महिलाओं को संबोधित किया। उनके व्याख्यानों से महिलाएं इतनी अधिक प्रभावित हुईं कि उन्होंने अपने आभूषण खोलकर गांधी जी को भेंट कर दिए। महिलाओं के इस तरह के सहयोग से जहां आंदोलन और बेहतर बना, वहीं आंदोलनकारियों को आत्मबल मिला। कुमाऊँ में पहली बार 1918 में धनियाकोट मझेड़ा में महिलाओं ने सक्रिय भागीदारी का एलान किया।

गांधी जी 15 जून को भवाली और 17 जून को ताड़ीखेत पहुंचे। वहां महिलाओं की सभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा— "तुम अपने साथ अन्य बहनों को लाकर ब्रिटिश सरकार को हिला दो, यह तुम्हारा मेरे लिए सबसे बड़ा उपहार होगा।" 18 जून को गांधी जी का कारवां अल्मोड़ा की ओर चौगानपाटा पहुंचा, जहां रेवरेंड ओकले ने मंत्र पढ़कर स्वागत किया। महिलाओं ने गांधी जी के हर आदेश का पालन किया। गांधी जी के द्वारा ही महिलाओं में चेतना लाने का प्रयास किया गया। असहयोग आंदोलन के दौरान स्थानीय स्तर पर महिलाएं राष्ट्रीय आंदोलन में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर हिस्सेदारी करने लगीं। 1922 में भागीरथी देवी और राजेश्वरी देवी ने कहा— "बहनों, हम मैदान में आकर अहिंसक असहयोग के युद्ध में मर्द बनकर खद्दर की वर्दी पहनकर इस अन्यायी सरकार से शांति की लड़ाई लड़ें और अपने घरों के चूल्हे-चौकों का इंतजाम अपने कायर खुद्दार मर्दों के सुपुर्द करें।"

सविनय अवज्ञा आंदोलन और कुमाऊँ की महिलाएं: कुमाऊँ की महिलाओं ने सविनय अवज्ञा आंदोलन में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया; इस दौरान वे कई बार जेल भी गईं। नैनीताल से विमला देवी, जानकी देवी शाह, शकुंतला देवी, भागीरथी देवी, पद्मा देवी जोशी तथा सावित्री देवी सक्रिय महिलाएं थीं। अल्मोड़ा में कुंती देवी वर्मा, दुर्गा देवी पंत, भक्ति देवी त्रिवेदी, तुलसी देवी, बच्ची देवी पांडे आदि के नेतृत्व में 100 से अधिक महिलाओं का संगठन था, जिन्होंने मोहन जोशी व शांतिलाल त्रिवेदी के घायल होने के बाद झंडा सत्याग्रह में योगदान दिया।

1931 में बागेश्वर में महिलाओं का सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें सभी वर्ग की महिलाओं ने बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी की तथा पूरे कुमाऊँ में महिलाओं को जागरूक करने, विदेशी कपड़ों की होली जलाने, शराब व सुल्फे का विरोध करने तथा खादी का प्रचार करने आदि का निर्णय लिया गया। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के लिए एक दल हल्द्वानी गया, जहां विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दिया गया; जिसके कारण सरकार ने कुंती वर्मा, मंगला देवी, जीवंती देवी, भागीरथी देवी, रेवती देवी, पद्मा देवी, पनी देवी आदि को गिरफ्तार किया। यह उत्तराखंड में महिला सत्याग्रहियों की पहली गिरफ्तारी थी। 'अमृत बाजार पत्रिका' ने सविनय अवज्ञा में कुमाऊँ की महिलाओं की सक्रियता को स्पष्ट करते हुए लिखा कि समस्त उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय संग्राम में अल्मोड़ा व नैनीताल सबसे आगे हैं; अल्मोड़ा में बिसनी देवी शाह कांग्रेस कार्यकर्ताओं की भूमिका में सर्वप्रथम हैं।

कूर्मांचल महिला सुधार सम्मेलन: नवंबर 1932 में कूर्मांचल महिला सुधार सम्मेलन बद्रीश्वर (अल्मोड़ा) के मैदान में आयोजित किया गया और दुर्गा देवी पंत को अध्यक्ष चुना गया। इस सम्मेलन में तुलसी देवी रावत ने स्वरचित कविता पढ़ी:

"ऐ बहनों जाग उठो, वीर तत्वों को अपनाओ।
राष्ट्र की पुकार पर, बलिदान हो जाओ॥
कायर न कहने पाए, कोई होश संभालो।
वीर जननी हो तुम, तनिक न घबराओ॥
घर के भीतर तुम, तनिक न घबराओ।
सोए हुओं को अब, तुम जगाओ॥
हिल-मिल के सब, संगठन की बंशी बजाओ।
फिर शांति की पताका, विश्व में फहराओ॥"

डॉ. सावित्री कैड़ा जन्तवाल का मत है— "मैं कहना चाहूंगी कि कुमाऊँ में जितने भी राष्ट्रीय व स्थानीय जन आंदोलन हुए, उनमें यहां की महिलाओं का सक्रिय योगदान रहा। यद्यपि प्रारंभ में वे सामाजिक प्रतिबंधों के कारण खुलकर सामने नहीं आ पाईं, परंतु 1921 के बाद राष्ट्रीय स्तर की तरह प्रत्यक्ष रूप में उन्होंने समूचे स्थानीय आंदोलनों में संकीर्ण विचारधाराओं को तोड़कर जबरदस्त महिला शक्ति का प्रदर्शन किया। दमनकारी शासक को यह दिखा दिया कि कुमाऊँ का महिला समाज कितना जागरूक है। संपूर्ण कुमाऊँ क्षेत्र राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत हो गया था और अल्मोड़ा नगर तो कुमाऊँ में आंदोलन का तीर्थस्थान सा बन गया था।"

व्यक्तिगत सत्याग्रह और कुमाऊँ की महिलाएं: 1940-41 में गांधी जी के आह्वान पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन के तहत कुमाऊँ में भी गिरफ्तारियां हुईं; जिसमें महिलाओं, काश्तकारों, शिक्षकों व छात्रों की भागीदारी रही। महिलाओं की हिस्सेदारी इस दौर में काफी प्रभावशाली रही। महिलाओं में शोभा मित्तल, भागीरथी देवी, यशोधरा देवी, कुंती देवी वर्मा, भागीरथी देवी साह, भवानी देवी जोशी, सरस्वती देवी, मालती देवी, कुंती देवी, चंदा देवी, धनी देवी, रेवती देवी का नाम उल्लेखनीय है। 1941 में महिला अध्यापिका गोमती देवी ने गंगोलीहाट की प्राइमरी पाठशाला से इस्तीफा दिया; वे पहली महिला अध्यापिका थीं जिन्होंने अपने पद को छोड़ा था।

भारत छोड़ो आंदोलन और कुमाऊँ की महिलाएं: 1942 का आंदोलन ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक निर्णायक रहा। सालम क्रांति में जानकी बिष्ट का मूक सहयोग अद्वितीय है। सालम क्रांति के दौरान वहां के आंदोलनकारियों की गुप्त बैठकें उन्हीं के घर में होती थीं; वे पुलिस से छिपकर वहां शरण लेते थे। सालम कांड के पश्चात रामसिंह आजाद व रेवाधर पांडे फांसी की सजा सुनाए जाने के बाद जब फरार हुए, तो कई दिनों तक नयन सिंह बिष्ट व जानकी देवी ने उन्हें शरण दी और देवली गौशाले में छिपा दिया तथा भोजन आदि की व्यवस्था गुप्त रूप से की।

यह आंदोलन इतना तीव्र था कि महिलाएं चूल्हा-चौका छोड़कर सड़कों पर उतरने को आतुर हो गईं। सरकार द्वारा गिरफ्तारियां की जाने लगीं; सरकार के इस व्यवहार को महिलाओं ने गंभीरता से लिया और उन्होंने विभिन्न स्थानों पर जुलूस व सभा आदि का आयोजन किया। फलस्वरूप जगह-जगह गांव-शहरों में महिलाओं को गिरफ्तार किया जाने लगा। नैनीताल में महिलाओं का कई बार तार कटवाने, डाक बंगले, जंगलात के मुख्यालय व अन्य कई स्थानों में आगजनी करवाने में मुख्य हाथ रहा। दानसिंह बिष्ट और उनके सहयोगी जब जंगलात के कार्यालय में आग लगाने में असफल हुए, तो कुंती देवी वर्मा का कहना था- "तुमसे इतना काम न हो सका, लो अपने हाथ में

चूड़ियां पहन लो। अकेली जाती हूं, आग लगाकर ही वापस लौटूंगी।" उस समय की महिलाओं के अंदर पुरुषों से भी अधिक साहस था; वे अपनी जान की परवाह किए बिना आंदोलन में कूद पड़ी थीं और आंदोलन को सार्थक भी बनाया।

1942 में सोमेश्वर में हुई एक सभा में महिलाओं की उपस्थिति को कम देखकर सरला बहन का कहना था कि महिला और पुरुष दोनों समाज के समान अंग हैं। जिस समाज में महिलाओं को शिक्षा, संस्कृति आदि का ज्ञान न हो तथा बच्चों के पालन-पोषण का पर्याप्त समय न मिलता हो, उस समाज की स्थिति वैसी ही है जैसे एक लंगड़े व्यक्ति की। नेतृत्वकर्ताओं ने न केवल समाज में नव-चेतना का संचार किया, बल्कि महिलाओं के हितों के लिए आवाज भी उठाई और उन्हें अपने अधिकारों के लिए जागरूक भी किया। उन्होंने न केवल आंदोलन में भागीदारी की, बल्कि पुरुष आंदोलनकारियों के जेल में होने पर आंदोलन को रुकने नहीं दिया, वरन बागडोर अपने हाथों में लेकर सफल नेतृत्व भी किया। उन्होंने गांव-गांव जाकर आंदोलन की अलख जगाई तथा लोगों को ढांढस बंधाया और आगे बढ़ीं।

निष्कर्ष- निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कुमाऊँ की महिलाओं ने सीमित संसाधनों, सामाजिक संकीर्णता व रूढ़िवादिता के होने के बावजूद भी आजादी की लड़ाई में मुख्य भूमिका निभाई। तमाम सामाजिक दबावों और जिम्मेदारियों के बावजूद वे महिलाएं स्वयं आगे आईं। वे घर व खेतों का कार्य करने के बाद भी गांव-गांव जाकर आजादी की चेतना जगाने में कभी पीछे नहीं रहीं। नेतृत्वकारी महिलाओं ने समाज में घर-घर जाकर विनती की कि अपने घरों की स्त्रियों को वे महिला संगठन में आने दें; इस दौरान उन्हें कई बार अपमान और उत्पीड़न का भी सामना करना पड़ता था।

छोटे से कस्बे से होने के बावजूद उन्होंने जिस तरह अंग्रेजी सरकार से लड़ाई लड़ी, वह वंदनीय है। महिलाओं की सक्रियता का परिचय इस बात से मिलता है कि गर्भावस्था के जोखिम भरे दिनों में भी वे जेल जाने से नहीं हिचकिचाईं तथा वहीं बच्चे को जन्म दिया; किंतु उन्हें वह सम्मान आज भी राष्ट्रीय स्तर पर नहीं मिल पाया, जिसकी वे सही मायने में हकदार हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि उन महिलाओं के कार्यों को विद्यालयी पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाए, उनके कार्यों को मुख्यधारा में लाया जाए, जिससे समाज की महिलाएं प्रेरित हों और अपने साथ होने वाले उत्पीड़न व अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने के लिए सशक्त बन सकें।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. त्रिपाठी, नंदन केसरी, उत्तराखंड एक समग्र अध्ययन, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2020, पृ० 102.
2. शक्ति, 14 फरवरी 1922.
3. रावत, अजय सिंह, उत्तराखंड का इतिहास, अंकित प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ० 460.
4. धामी, भगवान सिंह, यूकेपीडिया, समय साक्ष्य, 2021.
5. रावत, अजय सिंह, कुमाऊँ का इतिहास, संस्करण 2022, पृ० 506.
6. वही, पृ० 507.
7. पहाड़ पत्रिका, भाग 4, पृ० 221.
8. रावत, अजय सिंह, उत्तराखंड का इतिहास, अंकित प्रकाशन, संस्करण 2022, पृ० 470.

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

भारतीय संस्कृति में निहित वैज्ञानिक चेतना: इतिहास, परंपरा एवं आधुनिक प्रासंगिकता

डॉ० राघवेन्द्र प्रताप सिंह
पीएचडी, दर्शनशास्त्र
वीरबहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर (उ०प्र०)

PP.N0- 38-41 **Received: 01.03.2026** **Accepted:15.03.2026** **Email: raghwendrap14@gmail.com**

सारांश: प्राचीन समय में भारत ज्ञान एवं विज्ञान से समृद्ध रहा है। भारतीय वेदों एवं पुराणों में वर्तमान ज्ञान में दिखाई देने वाली सभी शाखाओं के बीज विद्यमान रहे हैं; फिर चाहे वह विज्ञान हो, प्रौद्योगिकी हो या चिकित्सा। जैसे-जैसे हम समय के साथ आगे बढ़ते रहे, वैसे-वैसे उन बीजों ने वर्तमान स्वरूप धारण कर लिया। भारत में धर्म जीवन का प्राण रहा है; धर्म से इतर भारत में कुछ भी नहीं था। विज्ञान, साहित्य, दर्शन और सभी प्रकार की आधुनिक ज्ञान की शाखाएं आज जिस रूप में हैं, वह इतिहास में हमें धर्म ग्रंथों के माध्यम से ही प्राप्त होती हैं। वर्तमान संदर्भों में इतिहास, विज्ञान आदि की जो परिभाषाएं दी गई हैं, उन परिभाषाओं के आधार पर हमारे प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान को मान्यता भले ही न मिलती हो, क्योंकि हमारी ऐतिहासिक चेतना को भी चुनौती दी गई और लोगों ने हम पर यह आरोप लगाया कि भारतीयों में इतिहास के प्रति चेतना नहीं थी; लेकिन हमारे वर्तमान विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में इतिहास कैसे और किन तत्वों में विद्यमान था। वर्तमान संदर्भों में कल्हण की राजतरंगिणी को भारत के प्रथम ऐतिहासिक ग्रंथ होने का गौरव प्राप्त है। प्राचीन समय में हमारे इतिहास व साहित्य में विज्ञान की धारा प्राकृतिक परंपराओं के साथ प्रवाहित हुई है।

कुंजीभूत शब्द : विज्ञान साहित्य, दर्शन, आधुनिक ज्ञान, ज्ञान-विज्ञान, भारतीय संस्कृति, वैज्ञानिक तत्व, अणु-परमाणु थ्योरी

हमारे प्राचीन ऋषि एवं मुनि वर्तमान वैज्ञानिकों से कहीं उच्च स्तर के वैज्ञानिक थे, क्योंकि महर्षि कणाद ने अणु-परमाणु थ्योरी को बहुत पहले खोज डाला था। इसी तरह हमारे भारतीय ऋषियों ने बांस से ऐसी दूरबीनों का आविष्कार किया था, जिसने आकाश मंडल में तारों का भेदन किया था; बाद में वर्तमान माध्यमों से ऐसी ही दूरबीनों का आविष्कार किया गया।

आज से हजारों वर्ष पहले हमारे ऋषियों ने पीपल के वृक्ष को यह कहकर पूजनीय घोषित कर दिया कि पीपल के संपूर्ण अंगों में सभी देवताओं का वास है; लेकिन इसके पीछे के विज्ञान को शायद आज का विज्ञान तवज्जो न देता हो। परंतु हम जानते हैं कि उन्होंने ऐसा क्यों किया था—क्योंकि उन्हें मालूम था कि पीपल का वृक्ष चौबीसों घंटे ऑक्सीजन प्रदान करता है और ऑक्सीजन मनुष्य की प्राणवायु है।

"जड़ें ब्रह्मा तने विष्णु शाखानाम महेश्वरा। पत्ते-पत्ते देवानाम् वृक्षराज नमोस्तुते॥"

यह कहकर उसकी रक्षा के लिए लोगों को प्रेरित किया, क्योंकि लोग धर्म को मानते थे और ईश्वर से डरते थे। उन्होंने अपनी इस वैज्ञानिक खोज को इसलिए भी सार्वजनिक नहीं किया, क्योंकि उस ज्ञान को समझने की चेतना एवं सूक्ष्म दृष्टि सामान्य लोगों में नहीं थी और प्रयोगशालाएं हमारे पास थीं नहीं। प्राचीन प्राणवायु, जिसे यह नाम ऋषियों ने दिया था, वर्तमान में ऑक्सीजन हो गई।

इस शोध पत्र में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में वैज्ञानिक तत्वों का अध्ययन किया गया है। मौर्य काल में हमें ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त मौर्य ने सौराष्ट्र में सुदर्शन झील पर अपने मंत्री पुष्यगुप्त के द्वारा एक बांध का निर्माण कराया था, जिससे मौर्य काल की इंजीनियरिंग के ज्ञान का पता चलता है, क्योंकि वर्तमान में बांधों का निर्माण इंजीनियरिंग का विषय है। अथर्ववेद से औषधियों के विषय में महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त होती हैं; अथर्ववेद हमारा प्राचीन औषधि विज्ञान का ग्रंथ है।

गुप्त काल तक आते-आते हमारी विज्ञान और प्रौद्योगिकी पूर्ण विकसित हो चुकी थी। यहां हम प्राचीन भारत के वैज्ञानिकों की सूची प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो आज के वर्तमान वैज्ञानिकों से कहीं उच्च स्तर का ज्ञान रखते थे; लेकिन उनको वह मान्यता विश्व पटल पर नहीं मिली, जो विश्व के अन्य वैज्ञानिकों ने हासिल की।

प्राचीन भारत के प्रमुख वैज्ञानिक: बौधायन,चरक, कुमारभृत्य जीवक, सुश्रुत, आर्यभट्ट, वराहमिहिर,ब्रह्मगुप्त, वाग्भट्ट, नागार्जुन, भास्कराचार्य

गुप्त काल में बहुत सारे वैज्ञानिक उपस्थित थे, जिन्होंने विज्ञान, प्रौद्योगिकी, चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, खगोल शास्त्र आदि के विषय में अपने ग्रंथों में महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराई है। गुप्त काल में आर्यभट्ट ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तथा उन्होंने अपनी पुस्तक सूर्य सिद्धांत में सूर्य ग्रहण तथा चंद्र ग्रहण के कारणों का उल्लेख किया है।

गुप्त काल में वर्तमान दिल्ली में स्थित महरौली नामक स्थान पर एक लौह स्तंभ का निर्माण किया गया था, जिसमें आज तक जंग की शिकायत नहीं आई। यह हमारे गुप्तकालीन लौह धातु-विज्ञान के उत्कर्ष का साक्षात प्रमाण है, जो आज भी विद्यमान है। इस काल में

कांस्य मूर्तियों, सिक्कों आदि का विकास हुआ, जो हमारी धातु-विज्ञान कला और ज्ञान को प्रदर्शित करते हैं। ब्रह्म सिद्धांत के माध्यम से खगोल शास्त्र की गहराइयों को मापने का उत्तम प्रयास किया गया है। धन्वंतरि तथा सुश्रुत इस काल के प्रख्यात चिकित्सक थे, जिन्होंने शल्य-क्रिया आदि का शुभारंभ किया। इसी युग में पालकाप्य नामक उच्च विद्वान हुए, जिन्होंने पशु-चिकित्सा पर अपने हस्त्यायुर्वेद व अश्व शास्त्र ग्रंथ लिखे।

ऋग्वेद में हमें वर्षा-विज्ञान के बीज प्राप्त होते हैं। हमारी प्राचीन परंपरा विज्ञान को प्रकृति से जोड़कर एवं भावात्मक शैली के साथ धार्मिक शब्दों का प्रयोग करती रही है। वर्तमान वैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि सूर्य की रोशनी से समुद्र आदि में व्याप्त जल वाष्पित होकर ऊपर उठता है और हवा उसे उड़ाकर सभी जगह ले जाती है, फिर वह पहाड़ आदि के अवरोध या घर्षण से वर्षा में परिवर्तित हो जाता है। कुछ इसी तरह हमारे वैदिक ऋषियों का विज्ञान ऋग्वेद की ऋचाओं में वर्णित है। उन्होंने इंद्र को जल का देवता घोषित किया है व लिखते है:

"सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियं प्रति गृभ्णाति विश्रता वरीयाभिः"

अर्थ: अंतरिक्ष-व्यापी इंद्र प्रवाहित जलों को समुद्र द्वारा नदियों को प्राप्त कराने के समान भाव से ग्रहण करते हैं।

समुद्र से जल को उड़ाकर सभी क्षेत्रों तक फैलाने वाली हवा की चर्चा करते हुए वेद कहते हैं:

"धारावरा मरुतो घृष्णोजसो मृगा न भीमास्तविषीभिरर्चिन"

ये मरुद्गण जलधारा से आकाश को आच्छादित करते हैं।

"भूमिं धमन्तो अपगा अवृश्चन्"

वे गतिशील मेघों को प्रेरित कर वर्षा करते हैं।

गुप्तकाल में वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ वृहत्संहिता में वर्षा-विज्ञान के संबंध में गर्ग, पराशर, कश्यप, वज्र, वादरायण, असित, देवल आदि अनेक आचार्यों के मत का उल्लेख किया है। आवश्यकता ही आविष्कार की जननी होती है और आविष्कार उस युग की आवश्यकता से जुड़े होते हैं। प्राचीन काल में कृषि भारत का प्रमुख व्यवसाय थी और सब कुछ कृषि पर ही निर्भर होता था। कृषि के लिए जल की महती आवश्यकता होती थी; ऐसे में हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि वैज्ञानिकों ने वृहत्संहिता के 21 से 28 अध्यायों में जलवायु, विशेषतः वर्षा-विज्ञान का विवरण प्रस्तुत किया है।

भट्टोत्पल की टीका में उद्धृत प्राचीन आचार्यों के वचन भी अत्यंत उपयोगी हैं तथा कृषि-पराशर नामक ग्रंथ में भी इस विषय का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। अर्थशास्त्र भी इसकी चर्चा करता है। वराहमिहिर ने वर्षाकाल का परीक्षण करने के विषय में वर्णित है:

"अन्नं जगत्प्राणाः प्रावृट्कालस्य चान्नमायत्तम्। यस्मादतः परीक्ष्यः प्रावृट्कालः प्रयत्नेन॥"

मेघों की निर्माण-प्रक्रिया वर्षा के बहुत पहले ही आरंभ हो जाती थी, जिसे आलंकारिक भाषा में 'गर्भधारण' कहते थे। सिद्धसेन के अनुसार मेघों का गर्भधारण कार्तिकी पूर्णिमा के पश्चात आरंभ हो जाता है तथा मेघमाला में कार्तिक मास में मेघों के गर्भधारण का वर्णन है; किंतु गर्ग आदि अधिकांश विद्वान इससे सहमत नहीं थे। उनके मतानुसार चंद्रमा के पूर्वाषाढा नक्षत्र में प्रविष्ट हो जाने पर मार्गशीर्ष (अगहन) शुक्ल प्रतिपदा से गर्भ के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं:

"मार्गशिरःसितपक्षप्रतिपत्प्रभृति क्षपाकरेऽषाढाम्। पूर्वाषाढां समुपगते गर्भाणां लक्षणं ज्ञेयम्॥"

वृहत्संहिता के इस विवरण से स्पष्ट है कि इस वर्षा-विज्ञान पर मौसम विभाग से संबंधित लगभग संपूर्ण ज्ञान एकत्रित किया गया था। गर्भधारण के समय चंद्रमा जिस नक्षत्र में अवस्थित हो, पुनः उसी नक्षत्र में 195 दिन (अर्थात साढ़े छह मास) पश्चात उसका प्रसव (वर्षा) होता है:

"यन्नक्षत्रमुपगते गर्भवश्चन्द्रैः भवते स चन्द्रवशात्। पंचविंशते दिनान्ते तत्रैव प्रसवं आयाति॥"

"तुल्यम् पौषासितपक्षाधै श्रावणशुक्लादयो विभिन्नेषु। सार्धषड्भिर्मासैः गर्भाणां विपाकः सनक्षत्रम्॥"

वृहत्संहिता के इस विवरण से स्पष्ट है कि वर्षा-विज्ञान से संबंधित मौसम विभाग का लगभग संपूर्ण ज्ञान एकत्र किया गया था, जो वर्तमान संदर्भों में भी प्रासंगिक है।

प्राचीन भारत के प्रमुख शास्त्र: प्राचीन भारत में न ऑफसेट प्रिंटिंग की मशीनें थीं और न ही स्क्रीन प्रिंटिंग थी; फिर भी प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों ने अपने पुरुषार्थ, ज्ञान एवं शोध की मदद से कई शास्त्रों की रचना की और उन्हें विकसित भी किया। उनके प्रमुख शास्त्रों का विवेचन निम्न प्रकार है:

1.आयुर्वेद शास्त्र: आयुर्वेद शास्त्र का विकास उत्तर-वैदिक काल में हुआ। इस विषय पर अनेक स्वतंत्र ग्रंथों की रचना हुई। भारतीय परंपरा के अनुसार आयुर्वेद की रचना सबसे पहले ब्रह्मा ने की। ब्रह्मा से प्रजापति ने, प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने और फिर अश्विनी कुमारों ने इंद्र को यह विद्या प्रदान की; इंद्र के द्वारा यह संपूर्ण लोक में विस्तारित हुई।

आयुर्वेद की मुख्य तीन परंपराएं हैं- भारद्वाज, धन्वंतरि तथा काश्यप। आयुर्वेद विज्ञान के आठ अंग हैं-शल्य, शालक्य, काय-चिकित्सा, भूत-विद्या, कौमारभृत्य, अगदतंत्र, रसायन और वाजीकरण। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता तथा काश्यप संहिता इसके प्रमुख ग्रंथ हैं।

आयुर्वेद के सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ चरक संहिता के बारे में ऐसा माना जाता है कि यह आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य अग्निवेश ने लिखा था। चरक ऋषि ने इस ग्रंथ को संस्कृत में रूपांतरित किया और इसका नाम चरक संहिता पड़ा। चरक संहिता में विभिन्न रोगों के लक्षण एवं निदान का वर्णन किया गया है। चरक संहिता के सातवें अध्याय में 'उन्माद' (जो एक मानसिक बीमारी है) के संबंध में कहा गया है:

"इह खलु पंचोन्मादा भवन्ति, तद्यथा—वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः।"

अर्थात उन्माद के पांच भेद हैं—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और आगंतुज।

2. रसायन शास्त्र: इसका प्रारंभ वैदिक युग से माना गया है। प्राचीन ग्रंथों में रसायन शास्त्र के 'रस' का अर्थ पारद (पारा) होता था। पारद को भगवान शिव का वीर्य माना गया है। रसायन शास्त्र के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के खनिजों का अध्ययन किया जाता था। वैदिक काल तक अनेक खनिजों की खोज हो चुकी थी तथा उनका व्यावहारिक प्रयोग भी होने लगा था।

इस क्षेत्र में सबसे ज्यादा नागार्जुन नामक बौद्ध विद्वान ने काम किया। उन्होंने एक नई खोज की, जिसमें पारे के प्रयोग से तांबा इत्यादि धातुओं को सोने में बदला जा सकता था। रसायन शास्त्र का प्रमुख ग्रंथ रसरत्नाकर है, जिसके रचयिता नागार्जुन थे। इसके प्राप्त होने वाले चार अध्यायों में शोधन, मारण, शुद्ध पारद-प्राप्ति तथा भस्म बनाने की विधियों का वर्णन मिलता है। रसायन शास्त्र के अन्य ग्रंथों में गोविंद भगवतपाद का रस-हृदय तंत्र तथा रसार्णव रस-सार आदि हैं।

3.ज्योतिष शास्त्र: ज्योतिष वैदिक साहित्य का ही एक अंग है। इसमें सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, नक्षत्र, ऋतु, मास तथा अयन आदि की स्थितियों पर गंभीर अध्ययन किया गया है। इस विषय में वेदांग ज्योतिष नामक ग्रंथ प्राप्त होता है; इसका रचनाकाल 1200 ई०पू० माना गया है। आर्यभट्ट ज्योतिष व गणित-विज्ञान के सबसे बड़े विद्वान थे; इनका ग्रंथ आर्यभटीय ज्योतिष का प्रमुख ग्रंथ है। वराहमिहिर की वृहत्संहिता भी ज्योतिष का प्रमुख ग्रंथ है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी ज्योतिष का वर्णन है। श्री कृष्ण अर्जुन को युगों एवं कालों के बारे में समझाते हुए कहते हैं:

"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥"

अर्थात एक हजार युग मिलाकर ब्रह्मा का एक दिन बनता है और इतनी ही बड़ी उनकी रात होती है। चार युगों को मिलाकर एक कल्प बनता है; ये चार युग हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलयुग।

1420 शक संवत में केशव के पुत्र गणेश का जन्मकाल माना जाता है; इन्होंने ज्योतिष का प्रमुख ग्रंथ ग्रहलाघव लिखा, जिसके आधार पर वर्तमान में भी भारत में बहुत से पंचांग बनाए जाते हैं।

4.गणित शास्त्र: वैदिक काल में गणित शास्त्र का भी विशेष महत्व था। गणित शास्त्र को मुख्यतः तीन भागों में बांटा गया है—अंकगणित, रेखागणित तथा बीजगणित। प्राचीन काल में यज्ञशालाएं, वेदिकाएं तथा कुंड बनाने में रेखागणित का प्रयोग होता था, जिसे शुल्ब सूत्र के अंतर्गत पढ़ा जाता था।

5.काम शास्त्र: काम शास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन माने जाते हैं; इन्होंने काम शास्त्र की 64 कलाओं का रोचक वर्णन किया है।

6.प्रौद्योगिकी ग्रंथ: भृगु संहिता में 16 विज्ञान तथा 64 प्रौद्योगिकियों का वर्णन है। इसमें इंजीनियरिंग और प्रौद्योगिकी को तीन खंडों में विभाजित किया गया है। हिंदी शिल्प शास्त्र नामक ग्रंथ में कृष्णाजी दामोदर वझे ने 400 प्रौद्योगिकी ग्रंथों की सूची दी है, जिनमें से प्रमुख हैं—भास्वती, शिल्प दीपिका, भृगु संहिता, मयमतम्, अपराजितपृच्छा, राजगृह निर्माण, दुर्गविधान, वास्तुविद्या। प्राचीन खनन से संबंधित संस्कृत ग्रंथ निम्नलिखित हैं—रत्न परीक्षा, लोहार्णव, धातुकल्प, लौह प्रदीप, नारद शिल्प शास्त्रम्, महावज्र भैरव तंत्र तथा पाषाण विचार।

अगस्त संहिता का विद्युत शास्त्र: राव कृष्णाजी वझे, जिन्होंने इंजीनियरिंग की परीक्षा 1881 में पूना से पास की थी, भारत में विज्ञान संबंधी ग्रंथों की खोज कर रहे थे। उसी दौरान उज्जैन में दामोदर त्र्यंबक जोशी के पास अगस्त संहिता के कुछ पन्ने मिले; ये शक संवत 1550 के करीब के थे।

आगे चलकर इस संहिता के पन्नों में उल्लिखित विवरण को पढ़कर नागपुर में संस्कृत के विभागाध्यक्ष रहे डॉ० एम० सी० सहस्रबुद्धे को आभास हुआ कि यह वर्णन 'डेनियल सेल' से मिलता-जुलता है। अतः उन्होंने नागपुर में इंजीनियरिंग के प्राध्यापक श्री पी० पी० होले को वह पन्ना दिया और उसकी जांच करने को कहा। अगस्त का वह सूत्र निम्न प्रकार है:

"संस्थाप्य मृण्मये पात्रे ताम्रपत्रं सुसंस्कृतम्। छादयेच्छिखिग्रीवेन चार्द्राभिः काष्ठपांसुभिः॥
दस्तालोष्टो निधातव्यः पारदाच्छादितस्ततः। संयोगाज्जायते तेजो मित्रावरुणसंज्ञितम्॥"

तात्पर्य: एक मिट्टी का पात्र लें, उसमें भली-भांति स्वच्छ की गई तांबे की पट्टी (Copper Sheet) डालें तथा शिखिग्रीवा डालें, फिर बीच में गीली लकड़ी का बुरादा (Wet Saw Dust) लगाएं। ऊपर पारा (Mercury) तथा जस्ता/जिंक (Zinc) डालें; फिर तारों को मिलाएंगे, तो उससे 'मित्रावरुण' नामक विद्युत शक्ति का उदय होगा।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर श्री होले तथा उनके मित्र ने प्रयोग की तैयारी चालू की, तो अधिकांश सामग्री तो समझ में आ गई, परंतु 'शिखिग्रीवा' का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। संस्कृत कोश देखने पर ध्यान आया कि शिखिग्रीवा यानी 'मोर की गर्दन'। अतः वे और उनके मित्र चिड़ियाघर गए और वहां के प्रमुख से पूछा कि "आपके बाग में मोर कब मरेगा?" यह सुनकर वे नाराज हुए, तब इन्होंने बताया कि एक वैज्ञानिक प्रयोग के लिए गर्दन की आवश्यकता है। यह सुनकर उन्होंने कहा कि "आप एक प्रार्थना-पत्र दे जाइए।"

कुछ दिनों बाद एक आयुर्वेदाचार्य से बात हो रही थी, तो उन्होंने यह घटनाक्रम सुनाया। तब उन्होंने 'शिखिग्रीवा' का वास्तविक अर्थ बताते हुए कहा कि यह पक्षी की गर्दन नहीं, अपितु उसकी गर्दन के रंग जैसा पदार्थ 'कॉपर सल्फेट' (तुत्थ/तांबा तूतिया) है। यह जानकारी मिलते ही समस्या हल हो गई। फिर इस आधार पर सेल का निर्माण किया गया और जब डिजिटल मल्टीमीटर द्वारा नापा गया, तो परिणाम आश्चर्यचकित करने वाले थे!

उसका ओपन सर्किट वोल्टेज 1.38 वोल्ट और शॉर्ट सर्किट करंट 23 मिली एंपियर था। अगस्त संहिता में विद्युत का उपयोग इलेक्ट्रोप्लाटिंग (विद्युत लेपन) के लिए करने का भी विवरण मिलता है; उन्होंने बैटरी द्वारा तांबा, सोना और चांदी पर पॉलिश चढ़ाने की विधि निकाली थी। अतः महर्षि अगस्त को 'कुंभोद्भव' (बैटरी कुंभ से उत्पन्न विद्युत के जनक) भी कहा जाता है।

हमारे प्राचीन विज्ञान और प्रौद्योगिकी की बहुत सारी बातें वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समाज के काम आ सकती हैं, जिनका शायद अभी तक उद्घाटन नहीं किया जा सका है और जो हमारे प्राचीन धार्मिक एवं ऐतिहासिक ग्रंथों में दबी पड़ी हैं। उन पर व्यापक स्तर पर शोध व प्रयास करने की महती आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. श्रीवास्तव, के० सी०, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ० २२६।
2. ओझा, एन० एन०, भारतीय इतिहास, पृ० १३१।
3. ऋग्वेद, १/५५/२।
4. वृहत्संहिता, २६/६।
5. वृहत्संहिता, २१/७।
6. चरक संहिता, ७/३।
7. श्रीमद्भगवद्गीता (व्याख्याकार: ए० सी० भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद), पृ० २८४।
8. इंटरनेट / विकिपीडिया।

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

दार्शनिक परामर्श : क्यों और कैसे समकालीन संदर्भों में उपयोगी है - एक दार्शनिक अनुशीलन

डॉ० श्रीप्रकाश तिवारी
असि0 प्रोफेसर-दर्शन
काशी नरेश राजकीय स्नाकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही (उ०प्र०)

PP.N0- 42-48 **Received: 05.03.2026** **Accepted:15.03.2026** **Email: sptiwari632@gmail.com**

सारांश: वर्तमान समय में व्यक्ति अनेक प्रकार के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा अस्तित्वगत प्रश्नों से जूझ रहा है। इन प्रश्नों का स्वरूप केवल मनोवैज्ञानिक नहीं, अपितु मूल्यगत भी है। प्रस्तुत अनुशीलन का मूल प्रतिपादन यह है कि दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता का आधार मानसिक दुर्बलता नहीं, बल्कि व्यवहारिक एवं परमार्थिक मूल्यों के मध्य उत्पन्न अंतर्विरोध है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में उपनिषदों, भगवद्गीता, योग तथा बौद्ध दर्शन के संवादों में ऐसी परामर्श-पद्धति विकसित हुई है जिसका उद्देश्य व्यक्ति पर निर्णय आरोपित करना नहीं, बल्कि उसके विवेक, आत्मचिन्तन तथा आत्मबोध को जागृत करना है। प्रस्तुत अनुशीलन में भारतीय परम्परा के आलोक में दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता, उसकी कार्यप्रणाली तथा समकालीन भारतीय समाज में उसकी उपयोगिता का विश्लेषण किया गया है तथा एक भारतीय दार्शनिक परामर्श प्रतिमान का प्रतिपादन किया गया है।

कुंजीभूत शब्द : दार्शनिक परामर्श, भारतीय दर्शन, मूल्य-अंतर्विरोध, व्यवहारिक मूल्य, परमार्थिक मूल्य, आत्मबोध, संवाद।

भूमिका- मनुष्य का जीवन केवल जैविक अथवा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि वह मूलतः मूल्याधारित अस्तित्व है। उसके विचार, निर्णय तथा आचरण केवल तात्कालिक आवश्यकताओं से संचालित नहीं होते, बल्कि उन मूल्यों से निर्देशित होते हैं जिन्हें वह अपने जीवन में सत्य, धर्म, कर्तव्य तथा कल्याण के रूप में स्वीकार करता है। सामान्य परिस्थितियों में व्यवहारिक और परमार्थिक मूल्य परस्पर पूरक प्रतीत होते हैं, किन्तु जीवन की जटिल परिस्थितियों में अनेक बार इनके मध्य ऐसा अंतर्विरोध उत्पन्न हो जाता है, जिसमें व्यक्ति के लिए उचित निर्णय करना कठिन हो जाता है। भारतीय दर्शन इस स्थिति को केवल मानसिक अस्थिरता नहीं मानता, बल्कि इसे विवेक, धर्म तथा जीवन-दृष्टि से सम्बन्धित दार्शनिक समस्या के रूप में स्वीकार करता है।[1]

समकालीन भारतीय समाज तीव्र सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा है। भूमण्डलीकरण, उपभोक्तावाद, प्रतिस्पर्धा, डिजिटल जीवनशैली तथा बदलते सामाजिक सम्बन्धों ने व्यक्ति के समक्ष अनेक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं, जहाँ व्यवहारिक सफलता और नैतिक उत्तरदायित्व, व्यक्तिगत आकांक्षा और सामाजिक दायित्व, आर्थिक लाभ और धर्मसम्मत आचरण तथा अधिकार और कर्तव्य के मध्य संतुलन स्थापित करना कठिन होता जा रहा है। फलतः व्यक्ति का संकट केवल बाह्य परिस्थितियों का नहीं, बल्कि उसकी मूल्य-दृष्टि का संकट बन जाता है।[2]

आधुनिक समय में परामर्श (Counselling) की आवश्यकता व्यापक रूप से स्वीकार की जा रही है। मनोवैज्ञानिक परामर्श, शैक्षिक परामर्श, व्यावसायिक परामर्श तथा पारिवारिक परामर्श जैसी अनेक विधाएँ विकसित हुई हैं। इन सभी का अपना विशिष्ट महत्व है, किन्तु अनेक परिस्थितियों में व्यक्ति की समस्या मानसिक रोग, भावनात्मक असंतुलन अथवा व्यवहारगत कठिनाई की नहीं होती, बल्कि उसके जीवन-मूल्यों के मध्य उत्पन्न दुविधा की होती है। जब व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि उसके लिए उचित क्या है, तब उसकी समस्या का समाधान केवल मनोवैज्ञानिक उपायों से संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता अनुभव की जाती है।[3]

दार्शनिक परामर्श का उद्देश्य व्यक्ति के स्थान पर निर्णय लेना नहीं, बल्कि उसे ऐसा बौद्धिक एवं नैतिक आधार प्रदान करना है, जिसके माध्यम से वह स्वयं अपने जीवन, कर्तव्य, उत्तरदायित्व तथा मूल्यों का सम्यक् परीक्षण कर सके। इस दृष्टि से दार्शनिक परामर्श किसी प्रकार का उपदेश नहीं, बल्कि संवाद, तर्क, आत्मचिन्तन तथा विवेक-जागरण की प्रक्रिया है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में यह प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन है। उपनिषदों के गुरु-शिष्य संवाद, यम और नचिकेता का प्रश्नोत्तर, श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद तथा महर्षि नारद और रत्नाकर का संवाद इस तथ्य के प्रमाण हैं कि भारतीय चिंतन में परामर्श का उद्देश्य उत्तर देना नहीं, बल्कि व्यक्ति को सत्य के प्रति जागृत करना है।[4]

भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि वह जीवन को व्यवहार (व्यवहारिक सत्य) और परमार्थ (परमार्थिक सत्य) के समन्वित रूप में देखता है। यहाँ न तो व्यवहार की उपेक्षा की गई है और न ही परमार्थ की। समस्या तब उत्पन्न होती है जब व्यवहारिक जीवन की आवश्यकताएँ और परमार्थिक जीवन के आदर्श परस्पर विरोधी प्रतीत होने लगते हैं। एक ओर व्यक्ति परिवार, समाज, व्यवसाय तथा राज्य के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन करना चाहता है, वहीं दूसरी ओर वह सत्य, धर्म, न्याय, करुणा और आत्मकल्याण जैसे उच्चतर मूल्यों के

प्रति भी प्रतिबद्ध रहता है। अनेक परिस्थितियों में यही दोनों मूल्य-समूह परस्पर अंतर्विरोध की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। प्रस्तुत अनुशीलन का मूल प्रतिपादन यही है कि दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता का वास्तविक आधार मानसिक दुर्बलता नहीं, बल्कि व्यवहारिक एवं परमार्थिक मूल्यों के मध्य उत्पन्न अंतर्विरोध है। जब व्यक्ति इस अंतर्विरोध के कारण निर्णय-संकट का अनुभव करता है, तब दार्शनिक परामर्श उसके विवेक को जागृत कर उसे उत्तरदायी निर्णय तक पहुँचने में सहायक बनता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में इस प्रकार का परामर्श किसी एक दार्शनिक प्रणाली तक सीमित नहीं है। उपनिषदों में आत्मविद्या के माध्यम से, भगवद्गीता में स्वधर्म एवं निष्काम कर्म के माध्यम से, बौद्ध दर्शन में सम्यक् दृष्टि एवं प्रज्ञा के माध्यम से तथा योगदर्शन में चित्त-शुद्धि एवं विवेकख्याति के माध्यम से व्यक्ति के अंतर्द्वन्द्व का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इन सभी परम्पराओं का सामान्य तत्व यह है कि वे व्यक्ति को बाह्य निर्देशों पर आश्रित नहीं बनातीं, बल्कि उसके भीतर निहित विवेक को जागृत करती हैं। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन में दार्शनिक परामर्श जीवन-दृष्टि के परिष्कार की प्रक्रिया है, न कि केवल समस्या-समाधान की तकनीक।

यद्यपि वर्तमान समय में दार्शनिक परामर्श (Philosophical Counselling) एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में विकसित हो रहा है, तथापि उसका अधिकांश सैद्धान्तिक विकास पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में हुआ है। भारतीय संदर्भ में उपलब्ध अध्ययन अपेक्षाकृत सीमित हैं तथा उनमें भारतीय दार्शनिक परम्परा की संवादात्मक कार्यप्रणाली, मूल्य-आधारित दृष्टिकोण एवं समकालीन सामाजिक उपयोगिता का समग्र विश्लेषण अपेक्षित रूप से नहीं मिलता। प्रस्तुत अनुशीलन इसी शोध-रिक्ति (Research Gap) की पूर्ति का प्रयास है।

प्रस्तुत अनुशीलन का मूल प्रतिपादन यह है कि दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता का वास्तविक आधार मानसिक दुर्बलता नहीं, बल्कि व्यवहारिक एवं परमार्थिक मूल्यों के मध्य उत्पन्न अंतर्विरोध है। इस प्रतिपादन की पुष्टि के लिए भारतीय दार्शनिक परम्परा के प्रमुख ग्रंथों का विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक अध्ययन किया गया है तथा समकालीन भारतीय जीवन की मूल्यगत समस्याओं के आलोक में उनका दार्शनिक पुनर्पाठ प्रस्तुत किया गया है। इसी आधार पर दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता, उसकी कार्यप्रणाली तथा समकालीन भारतीय संदर्भों में उसकी उपयोगिता का विवेचन करते हुए भारतीय दर्शन पर आधारित एक प्रारूप (Model) प्रस्तुत किया गया है।

दार्शनिक परामर्श की अवधारणा एवं भारतीय आधार- दार्शनिक परामर्श (Philosophical Counselling) का सामान्य अर्थ दर्शन के सिद्धान्तों एवं जीवन-दृष्टि के आधार पर व्यक्ति के जीवन में उत्पन्न जिज्ञासाओं, दुविधाओं तथा मूल्यगत समस्याओं के समाधान की दिशा में उसका मार्गदर्शन करना है। यह मार्गदर्शन किसी पूर्वनिर्धारित उत्तर अथवा उपदेश पर आधारित न होकर संवाद, तर्क, आत्मचिन्तन तथा विवेक के माध्यम से सम्पन्न होता है। अतः दार्शनिक परामर्श का उद्देश्य व्यक्ति के स्थान पर निर्णय लेना नहीं, बल्कि उसे ऐसा बौद्धिक एवं नैतिक आधार प्रदान करना है, जिससे वह स्वयं अपने जीवन से सम्बन्धित निर्णयों का उत्तरदायित्व ग्रहण कर सके।[5]

समकालीन समय में दार्शनिक परामर्श को एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में स्वीकार किया जा रहा है, किन्तु भारतीय ज्ञान-परम्परा में इसका व्यावहारिक स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि "दार्शनिक परामर्श" शब्द भारतीय शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होता, तथापि उसकी मूल भावना उपनिषदों, भगवद्गीता, बौद्ध दर्शन तथा योगदर्शन की संवाद-परम्परा में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। इन परम्पराओं में परामर्श का उद्देश्य व्यक्ति को बाह्य निर्देशों का अनुयायी बनाना नहीं, बल्कि उसके भीतर स्थित विवेक को जागृत करना है।[6]

भारतीय दर्शन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह ज्ञान को केवल बौद्धिक सूचना (Information) नहीं मानता, बल्कि आत्मानुभूति एवं जीवन-परिवर्तन का साधन स्वीकार करता है। इसी कारण गुरु और शिष्य का सम्बन्ध उपदेशक और श्रोता का न होकर जिज्ञासु और मार्गदर्शक का होता है। उपनिषदों में सत्य की प्राप्ति प्रश्न, प्रतिप्रश्न, तर्क तथा अनुभव के माध्यम से होती है। नचिकेता, श्वेतकेतु, मैत्रेयी तथा जनक जैसे पात्र इस संवादात्मक परम्परा के प्रतिनिधि उदाहरण हैं।[7]

भारतीय दार्शनिक परम्परा में भगवद्गीता दार्शनिक परामर्श का सर्वाधिक विकसित उदाहरण प्रस्तुत करती है। अर्जुन की समस्या शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता की नहीं थी, बल्कि वह कर्तव्य, करुणा, न्याय तथा स्वजन-संबंधों के मध्य उत्पन्न मूल्यगत दुविधा से जूझ रहा था। श्रीकृष्ण ने उसके स्थान पर निर्णय नहीं लिया, बल्कि कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग तथा स्वधर्म का दार्शनिक विवेचन करते हुए उसके विवेक को जागृत किया। अंततः उन्होंने अर्जुन को स्वतंत्र निर्णय का अधिकार प्रदान करते हुए कहा—"विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।" इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिक परामर्श का लक्ष्य निर्णय आरोपित करना नहीं, बल्कि निर्णय-क्षमता का विकास करना है।[8]

भारतीय परम्परा में परामर्शदाता और परामर्शग्राही का सम्बन्ध भी विशिष्ट है। यहाँ परामर्शदाता स्वयं को अंतिम सत्य का स्वामी नहीं मानता, बल्कि सत्य की खोज में सहायक की भूमिका निभाता है। इसी प्रकार परामर्शग्राही भी निष्क्रिय श्रोता नहीं होता, बल्कि सक्रिय प्रश्नकर्ता और आत्मपरीक्षक होता है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक परामर्श का आधार संवादात्मक सहभागिता है, न कि एकपक्षीय निर्देश।[9]

अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में दार्शनिक परामर्श का वास्तविक उद्देश्य किसी समस्या का तात्कालिक समाधान प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि का परिष्कार करना है। जब व्यक्ति अपने जीवन, कर्तव्य तथा मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करने लगता है, तभी उसके भीतर स्थायी परिवर्तन की संभावना उत्पन्न होती है। यही भारतीय दार्शनिक परामर्श की विशिष्टता है तथा यही उसकी समकालीन प्रासंगिकता का मूल आधार भी है।

व्यवहारिक एवं परमार्थिक मूल्य-अंतर्विरोध : दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता क्यों?

मानव जीवन स्वभावतः मूल्याधारित है। व्यक्ति का प्रत्येक निर्णय केवल तात्कालिक लाभ अथवा हानि के आधार पर नहीं होता, बल्कि उसके पीछे कोई न कोई मूल्य-दृष्टि कार्य करती है। सामान्यतः जीवन में व्यवहारिक और परमार्थिक मूल्य परस्पर पूरक होते हैं, किन्तु अनेक परिस्थितियों में दोनों के मध्य ऐसा अंतर्विरोध उत्पन्न हो जाता है जिसमें व्यक्ति उचित निर्णय करने में स्वयं को असमर्थ अनुभव करता है। प्रस्तुत अनुशीलन का मूल प्रतिपादन यही है कि दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता का वास्तविक आधार मानसिक दुर्बलता नहीं, बल्कि इसी प्रकार का मूल्यगत अंतर्विरोध है।[10]

भारतीय दर्शन में व्यवहारिक (व्यवहार) और परमार्थिक (परमार्थ) दोनों सत्यों को स्वीकार किया गया है। व्यवहारिक स्तर पर मनुष्य परिवार, समाज, व्यवसाय तथा राज्य के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन करता है, जबकि परमार्थिक स्तर पर सत्य, धर्म, करुणा, आत्मबोध तथा लोकमंगल जैसे आदर्श उसके जीवन का मार्गदर्शन करते हैं। सामान्य परिस्थितियों में इन दोनों के मध्य संतुलन बना रहता है, किन्तु जब व्यवहारिक आवश्यकताएँ परमार्थिक आदर्शों से टकराने लगती हैं, तब व्यक्ति के भीतर निर्णय-संकट उत्पन्न होता है।[11]

भारतीय पुरुषार्थ-चतुष्टय- "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" भी इसी संतुलन की स्थापना का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। भारतीय चिंतन न तो अर्थ और काम का निषेध करता है और न ही धर्म एवं मोक्ष की उपेक्षा स्वीकार करता है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब अर्थ, धर्म से पृथक हो जाता है अथवा मोक्ष की साधना सामाजिक उत्तरदायित्वों से विमुख हो जाती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का संकट बाह्य नहीं, बल्कि मूल्यगत हो जाता है। इसलिए भारतीय दर्शन समाधान के रूप में किसी एक मूल्य की निरपेक्ष प्रधानता नहीं देता, बल्कि उनके समन्वय का मार्ग प्रस्तुत करता है।[12]

भगवद्गीता में अर्जुन का विषाद इसी प्रकार के मूल्य-अंतर्विरोध का उत्कृष्ट उदाहरण है। अर्जुन के समक्ष एक ओर स्वजन के प्रति करुणा थी, तो दूसरी ओर अन्याय के प्रतिरोध का क्षत्रियधर्म। एक ओर अहिंसा की भावना थी, तो दूसरी ओर धर्मरक्षा का दायित्व। यह संघर्ष मानसिक दुर्बलता का नहीं, बल्कि मूल्यगत दुविधा का था। श्रीकृष्ण ने उसके लिए निर्णय नहीं किया, बल्कि आत्मा, कर्म, स्वधर्म तथा निष्काम कर्म का विवेचन करते हुए उसके विवेक को जागृत किया। परिणामस्वरूप अर्जुन ने स्वयं निर्णय लिया। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिक परामर्श का उद्देश्य समाधान देना नहीं, बल्कि समाधान तक पहुँचने की क्षमता विकसित करना है।[13]

भारतीय परम्परा में महर्षि वाल्मीकि का प्रसंग भी इसी सत्य का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। रत्नाकर अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए हिंसा और लूट को उचित मानता था। महर्षि नारद ने उसे केवल इतना प्रश्न किया कि जिनके लिए वह अधर्म कर रहा है, क्या वे उसके पाप में भी सहभागी होंगे? यह प्रश्न उसके भीतर आत्मपरीक्षण का कारण बना। उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और वही रत्नाकर आगे चलकर महर्षि वाल्मीकि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिक परामर्श आदेश नहीं देता, बल्कि प्रश्न के माध्यम से विवेक को जागृत करता है।[14]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में परामर्शदाता और परामर्शग्राही दोनों जागरूक एवं उत्तरदायी होते हैं। परामर्शदाता अपने विचार आरोपित नहीं करता, बल्कि संवाद का ऐसा वातावरण निर्मित करता है जिसमें परामर्शग्राही स्वयं अपनी समस्या के दार्शनिक स्वरूप को समझ सके। उसी प्रकार परामर्शग्राही भी निष्क्रिय श्रोता न होकर सक्रिय सहभागी होता है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक परामर्श का आधार सहभागितापूर्ण संवाद (Participatory Dialogue) है, न कि एकपक्षीय निर्देशन।[15]

समकालीन भारतीय समाज में भी ऐसी मूल्यगत दुविधाएँ अनेक रूपों में दिखाई देती हैं—प्रशासन में ईमानदारी और संस्थागत दबाव के मध्य संघर्ष, व्यापार में लाभ और नैतिकता के मध्य द्वन्द्व, शिक्षा में प्रतिस्पर्धा और चरित्र-निर्माण के मध्य असंतुलन, पारिवारिक जीवन में व्यक्तिगत आकांक्षाओं और सामूहिक उत्तरदायित्वों का टकराव तथा सार्वजनिक जीवन में अधिकार और कर्तव्य के मध्य उत्पन्न तनाव। इन सभी स्थितियों में समस्या केवल व्यवहारिक नहीं, बल्कि मूल्यगत है। अतः इनका स्थायी समाधान भी मूल्य-दृष्टि के परिष्कार से ही सम्भव है।

अतः यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता किसी मानसिक अक्षमता का संकेत नहीं है। इसके विपरीत, यह उस जागरूक व्यक्ति की आवश्यकता है जो जीवन के जटिल निर्णयों को केवल सुविधा या लाभ के आधार पर नहीं, बल्कि

विवेक, नैतिकता और उत्तरदायित्व के आलोक में लेना चाहता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में यही दार्शनिक परामर्श की वास्तविक प्रासंगिकता है।

दार्शनिक परामर्श की कार्यप्रणाली : भारतीय संवाद-परम्परा के आलोक में- यदि दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता मूल्यगत अंतर्विरोध के कारण उत्पन्न होती है, तो स्वाभाविक प्रश्न यह है कि वह इस अंतर्विरोध का समाधान किस प्रकार करता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दार्शनिक परामर्श की प्रभावशीलता किसी निश्चित तकनीक अथवा पूर्वनिर्धारित उत्तर में नहीं, बल्कि उसकी संवादात्मक प्रक्रिया में निहित है। इसका उद्देश्य व्यक्ति के स्थान पर निर्णय लेना नहीं, बल्कि उसके विवेक को इस प्रकार जागृत करना है कि वह स्वयं उत्तरदायी निर्णय लेने में सक्षम हो सके।[16]

भारतीय परम्परा में परामर्श की प्रक्रिया व्यक्ति की समस्या को सुनने से आरम्भ होती है। परन्तु यहाँ समस्या का विश्लेषण केवल उसके बाह्य स्वरूप तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उसके पीछे निहित मूल्यगत दुविधा की पहचान की जाती है। अनेक बार व्यक्ति जिस समस्या को परिस्थितिजन्य मानता है, उसका वास्तविक कारण उसकी जीवन-दृष्टि में उपस्थित अंतर्विरोध होता है। अतः दार्शनिक परामर्श का प्रथम चरण समस्या के मूल स्वरूप का दार्शनिक अन्वेषण है।[17]

इसके उपरान्त संवाद की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। भारतीय दर्शन में संवाद का उद्देश्य वाद-विवाद में विजय प्राप्त करना नहीं, बल्कि सत्य की संयुक्त खोज करना है। प्रश्न, प्रतिप्रश्न, तर्क, दृष्टान्त तथा आत्मचिन्तन के माध्यम से परामर्शदाता परामर्शग्राही को अपने विचारों का पुनः परीक्षण करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रक्रिया में किसी निष्कर्ष को आरोपित नहीं किया जाता; बल्कि व्यक्ति को स्वयं सत्य का बोध कराने का प्रयास किया जाता है।[18]

कठोपनिषद् में यम और नचिकेता का संवाद तथा भगवद्गीता में श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद इसी पद्धति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यम नचिकेता को तत्काल उत्तर नहीं देते, बल्कि उसे श्रेय और प्रेय के मध्य भेद करने की दृष्टि प्रदान करते हैं। उसी प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध का आदेश मात्र नहीं देते, बल्कि उसके संशयों का दार्शनिक विश्लेषण करते हुए उसके विवेक को जागृत करते हैं। संवाद की समाप्ति पर अर्जुन स्वयं कहते है—"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।" यह कथन इस तथ्य का प्रमाण है कि भारतीय दार्शनिक परामर्श का लक्ष्य व्यक्ति की चेतना का परिष्कार है।[19]

भारतीय दार्शनिक परामर्श की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इसमें परामर्शदाता और परामर्शग्राही दोनों सक्रिय एवं जागरूक सहभागी होते हैं। परामर्शदाता किसी चिकित्सक की भाँति उपचार नहीं करता और न ही किसी गुरु की भाँति केवल आदेश देता है। वह संवाद का ऐसा वातावरण निर्मित करता है जिसमें परामर्शग्राही स्वयं अपने जीवन, मूल्यों तथा निर्णयों का पुनर्मूल्यांकन कर सके। इसलिए भारतीय परामर्श-पद्धति में आत्मपरीक्षण, स्वानुभूति तथा विवेक का विकास सर्वोपरि माना गया है।[20]

इसी आधार पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक परामर्श और मनोवैज्ञानिक परामर्श का कार्यक्षेत्र भिन्न है। मनोवैज्ञानिक परामर्श का प्रमुख उद्देश्य मानसिक, भावनात्मक अथवा व्यवहारगत कठिनाइयों का समाधान करना है, जबकि दार्शनिक परामर्श का उद्देश्य व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि को स्पष्ट करना तथा उसके निर्णयों को नैतिक आधार प्रदान करना है। अतः दोनों परामर्श-पद्धतियाँ परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि विभिन्न स्तरों पर कार्य करने वाली पूरक विधाएँ हैं।

अतः भारतीय दार्शनिक परम्परा के आलोक में यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक परामर्श की कार्यप्रणाली का आधार समस्या की दार्शनिक पहचान, संवाद, आत्मपरीक्षण, विवेक-जागरण और स्वनिर्णय है। यही प्रक्रिया व्यक्ति को बाह्य निर्देशों पर निर्भर रहने के स्थान पर आत्मबोध एवं उत्तरदायी जीवन की दिशा में अग्रसर करती है।

समकालीन भारतीय संदर्भों में दार्शनिक परामर्श की उपयोगिता- समकालीन भारत तीव्र सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा है। इन परिवर्तनों ने जहाँ विकास के नए अवसर प्रदान किए हैं, वहीं व्यक्ति के समक्ष अनेक मूल्यगत चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। आज अधिकांश समस्याएँ ज्ञान के अभाव से नहीं, बल्कि उचित और अनुचित, अधिकार और कर्तव्य, व्यक्तिगत हित और सामाजिक उत्तरदायित्व के मध्य संतुलन स्थापित करने की कठिनाई से उत्पन्न होती हैं। ऐसी परिस्थितियों में दार्शनिक परामर्श व्यक्ति को तैयार उत्तर नहीं देता, बल्कि उसके विवेक को जागृत कर उसे उत्तरदायी निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करता है।[21]

शिक्षा के क्षेत्र में आज ज्ञानार्जन की अपेक्षा प्रतियोगिता, रोजगार तथा व्यावसायिक सफलता पर अधिक बल दिया जा रहा है। परिणामस्वरूप विद्यार्थी बौद्धिक रूप से सक्षम होने पर भी जीवन के उद्देश्य, नैतिक उत्तरदायित्व तथा सामाजिक प्रतिबद्धता जैसे प्रश्नों के प्रति दुविधाग्रस्त दिखाई देता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचना का अर्जन नहीं, बल्कि विवेक, चरित्र और व्यक्तित्व का विकास माना गया है। इस दृष्टि से दार्शनिक परामर्श शिक्षा को पुनः मूल्यकेंद्रित बनाने में सहायक सिद्ध हो सकता है।[22]

पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में भी व्यक्ति अनेक मूल्यगत संघर्षों का सामना करता है। संयुक्त परिवार से एकल परिवार की ओर संक्रमण, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और पारिवारिक उत्तरदायित्व के मध्य संतुलन, वृद्धजनों के प्रति दायित्व तथा पीढ़ियों के मध्य बदलते सम्बन्ध जैसी परिस्थितियाँ केवल सामाजिक समस्याएँ नहीं हैं, बल्कि मूल्यगत प्रश्न भी हैं। दार्शनिक परामर्श व्यक्ति को अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों तथा स्वार्थ की अपेक्षा सहअस्तित्व की दृष्टि विकसित करने के लिए प्रेरित करता है।[23]

प्रशासनिक एवं सार्वजनिक जीवन में भी अनेक बार विधिक दायित्व और नैतिक उत्तरदायित्व के मध्य द्वन्द्व उत्पन्न होता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में लोकसंग्रह, स्वधर्म तथा निष्काम कर्म की अवधारणाएँ ऐसे निर्णयों के लिए नैतिक आधार प्रदान करती हैं। दार्शनिक परामर्श प्रशासनिक उत्तरदायित्व को केवल नियमों के पालन तक सीमित न रखकर, लोककल्याण की व्यापक भावना से जोड़ता है।[24]

व्यापार तथा व्यावसायिक जीवन में आर्थिक सफलता को प्रायः सर्वोच्च लक्ष्य मान लिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप लाभ और नैतिकता, प्रतिस्पर्धा और सामाजिक उत्तरदायित्व तथा व्यक्तिगत उन्नति और सार्वजनिक हित के मध्य संघर्ष उत्पन्न होता है। भारतीय दर्शन अर्थ को स्वीकार करते हुए भी उसे धर्म के अधीन मानता है। इस दृष्टि से दार्शनिक परामर्श व्यावसायिक जीवन में नैतिक विवेक तथा उत्तरदायी निर्णय-क्षमता के विकास का माध्यम बन सकता है।[25]

डिजिटल युग में कृत्रिम बुद्धिमत्ता, सामाजिक मीडिया तथा त्वरित संचार ने जीवन को अत्यधिक गतिशील बना दिया है। सूचना की प्रचुरता के बावजूद विवेकपूर्ण निर्णय का संकट पहले से अधिक गहरा हुआ है। व्यक्ति के सामने सत्य और असत्य, तथ्य और भ्रम, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे प्रश्न निरन्तर उपस्थित रहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में दार्शनिक परामर्श आलोचनात्मक चिन्तन, नैतिक विवेक तथा उत्तरदायी डिजिटल आचरण के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।[26]

वर्तमान भारतीय समाज में युवाओं के समक्ष कैरियर, जीवन-शैली, पारिवारिक अपेक्षाओं, सामाजिक प्रतिस्पर्धा तथा व्यक्तिगत आकांक्षाओं से सम्बन्धित अनेक निर्णय-संकट उपस्थित होते हैं। इनका समाधान केवल मनोवैज्ञानिक परामर्श से सम्भव नहीं है, क्योंकि इनका मूल कारण प्रायः मूल्यगत दुविधा होती है। दार्शनिक परामर्श ऐसे व्यक्तियों को अपने जीवन-मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करने तथा विवेकपूर्ण निर्णय लेने की क्षमता विकसित करने में सहायता प्रदान करता है।[27]

अतः यह स्पष्ट होता है कि समकालीन भारतीय समाज में दार्शनिक परामर्श की उपयोगिता किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं है। इसका वास्तविक योगदान व्यक्ति के भीतर ऐसी मूल्य-दृष्टि का विकास करना है, जो उसे व्यवहारिक जीवन की जटिल परिस्थितियों में भी नैतिक, उत्तरदायी तथा लोकमंगलकारी निर्णय लेने के लिए समर्थ बनाए। इसी अर्थ में दार्शनिक परामर्श वर्तमान भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण बौद्धिक एवं नैतिक आवश्यकता के रूप में उभरता है।

भारतीय दार्शनिक परामर्श का एक प्रस्तावित प्रतिमान- प्रस्तुत अनुशीलन के आधार पर यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में दार्शनिक परामर्श का उद्देश्य व्यक्ति की समस्या का प्रत्यक्ष समाधान प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि उसकी मूल्य-दृष्टि का परिष्कार करना है। भारतीय चिंतन के अनुसार किसी भी निर्णय की स्थायित्व तभी सम्भव है जब वह जागृत विवेक से उत्पन्न हो। अतः भारतीय दार्शनिक परामर्श का केन्द्र मानसिक उपचार नहीं, बल्कि आत्मबोध के माध्यम से उत्तरदायी निर्णय-क्षमता का विकास है।[29]

भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि परामर्श की प्रक्रिया किसी निश्चित तकनीक पर आधारित न होकर संवादात्मक एवं अनुभवात्मक है। जब व्यक्ति व्यवहारिक एवं परमार्थिक मूल्यों के मध्य उत्पन्न अंतर्विरोध के कारण निर्णय-संकट का अनुभव करता है, तब परामर्शदाता उसकी समस्या का तत्काल समाधान प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि उसे उस अंतर्विरोध के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार परामर्श की प्रक्रिया समस्या के बाह्य स्वरूप से आरम्भ होकर उसके मूल्यगत आधार तक पहुँचती है।

इसके उपरान्त संवाद प्रारम्भ होता है। भारतीय परम्परा में संवाद का उद्देश्य किसी मत की स्थापना या खण्डन नहीं, बल्कि सत्य का अन्वेषण है। प्रश्न, प्रतिप्रश्न, तर्क तथा दृष्टान्तों के माध्यम से परामर्शदाता परामर्शग्राही को आत्मपरीक्षण के लिए प्रेरित करता है। इस प्रक्रिया में वह अपने विचार आरोपित नहीं करता, बल्कि परामर्शग्राही के भीतर निहित विवेक को जागृत करने का प्रयास करता है।[30]

संवाद के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने जीवन, मूल्यों तथा निर्णयों का पुनर्मूल्यांकन करता है। आत्मपरीक्षण से उत्पन्न विवेक उसे श्रेय और प्रेय, कर्तव्य और सुविधा तथा स्वार्थ और लोकमंगल के मध्य यथोचित भेद करने की क्षमता प्रदान करता है। यही विवेक आगे चलकर आत्मबोध का आधार बनता है। जब व्यक्ति आत्मबोध की अवस्था में पहुँचता है, तब वह बाह्य निर्देशों पर निर्भर न रहकर स्वयं उत्तरदायी निर्णय लेने में समर्थ हो जाता है। भगवद्गीता में अर्जुन का मोह-निवृत्त होकर स्वविवेक से निर्णय लेना तथा महर्षि नारद के प्रश्नों से रत्नाकर का महर्षि वाल्मीकि के रूप में रूपान्तरण इसी प्रक्रिया के प्रतिनिधि उदाहरण हैं।[31]

इस प्रकार भारतीय दार्शनिक परामर्श की सम्पूर्ण प्रक्रिया को निम्नलिखित प्रतिमान के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

मूल्यगत अंतर्विरोध ⟶ संवाद ⟶ आत्मपरीक्षण ⟶ विवेक-जागरण ⟶ आत्मबोध ⟶ उत्तरदायी निर्णय ⟶ लोकमंगल

यह प्रतिमान भारतीय दर्शन की उस मूल भावना को अभिव्यक्त करता है जिसके अनुसार व्यक्ति का वास्तविक कल्याण लोककल्याण से पृथक नहीं है। अतः भारतीय दार्शनिक परामर्श केवल व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान का माध्यम नहीं, बल्कि उत्तरदायी नागरिकता, नैतिक सामाजिक जीवन तथा मूल्यनिष्ठ संस्कृति के निर्माण का भी प्रभावी साधन बन सकता है।

निष्कर्ष- प्रस्तुत अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि समकालीन भारतीय समाज में दार्शनिक परामर्श की आवश्यकता निरन्तर बढ़ रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वर्तमान जीवन की अनेक समस्याएँ केवल मानसिक अथवा व्यवहारगत नहीं हैं, बल्कि वे मूलतः मूल्यगत दुविधाओं और निर्णय-संकटों से सम्बन्धित हैं। जब व्यक्ति व्यवहारिक आवश्यकताओं और परमार्थिक आदर्शों के मध्य संतुलन स्थापित नहीं कर पाता, तब उसके समक्ष ऐसा अंतर्विरोध उत्पन्न होता है जिसका समाधान केवल बाह्य निर्देशों से सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में दार्शनिक परामर्श व्यक्ति के विवेक, आत्मचिन्तन और आत्मबोध को जागृत करते हुए उसे उत्तरदायी निर्णय तक पहुँचने में सहायता प्रदान करता है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में दार्शनिक परामर्श की सुदृढ़ आधारभूमि विद्यमान है। उपनिषदों की संवाद-परम्परा, भगवद्गीता का अर्जुन–कृष्ण संवाद तथा भारतीय चिंतन की अन्य धाराएँ यह प्रमाणित करती हैं कि यहाँ परामर्श का उद्देश्य व्यक्ति पर निर्णय आरोपित करना नहीं, बल्कि उसके भीतर निहित विवेक को जागृत करना है। इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिक परामर्श संवाद, आत्मपरीक्षण और आत्मबोध की प्रक्रिया है।

प्रस्तुत अनुशीलन ने यह भी स्पष्ट किया है कि दार्शनिक परामर्श और मनोवैज्ञानिक परामर्श के कार्यक्षेत्र भिन्न होते हुए भी परस्पर पूरक हैं। मनोवैज्ञानिक परामर्श जहाँ मानसिक एवं व्यवहारगत समस्याओं के समाधान में सहायक होता है, वहीं दार्शनिक परामर्श जीवन-मूल्यों, नैतिक निर्णयों और अस्तित्वगत प्रश्नों के समाधान की दिशा प्रदान करता है।

भारतीय संदर्भ में दार्शनिक परामर्श शिक्षा, परिवार, प्रशासन, व्यवसाय तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसका उद्देश्य केवल व्यक्तिगत समस्या का समाधान करना नहीं, बल्कि ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना है जो विवेकपूर्ण, उत्तरदायी और लोकमंगल की भावना से युक्त हो।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दार्शनिक परामर्श आधुनिक भारतीय समाज में एक महत्वपूर्ण मूल्यपरक आवश्यकता के रूप में विकसित हो सकता है। भारतीय दर्शन में निहित संवाद, विवेक और आत्मबोध की परम्परा को समकालीन आवश्यकताओं के अनुरूप व्यवस्थित किया जाए तो यह व्यक्ति और समाज दोनों के नैतिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

अंततः यह अनुशंसा की जाती है कि भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप दार्शनिक परामर्श के व्यावहारिक उपकरणों (Tools) के विकास की दिशा में आगे शोध किया जाए, जिससे इसे सामान्य जनजीवन में अधिक प्रभावी रूप से उपयोगी बनाया जा सके। साथ ही, कारागारों में बंदियों के लिए एक सप्ताह की दार्शनिक परामर्श कार्यशाला के मॉडल का विकास भविष्य के स्वतंत्र शोध का विषय बनाया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ईशावास्य उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. व्यास, श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर।
4. Raabe, P. B. (2001). Philosophical Counseling: Theory and Practice. Westport, CT: Praeger.
5. बृहदारण्यक उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
6. छान्दोग्य उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
7. मुण्डक उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
8. पतञ्जलि, पातञ्जल योगदर्शन (योगसूत्र), गीता प्रेस, गोरखपुर।
9. धम्मपद, गीता प्रेस, गोरखपुर।
10. मनु, मनुस्मृति, गीता प्रेस, गोरखपुर।
11. व्यास, महाभारत (शान्तिपर्व), गीता प्रेस, गोरखपुर।

12. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
13. वाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
14. अध्यात्म रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
15. Vivekananda, S. (2006). The Complete Works of Swami Vivekananda (Vol. 1). Advaita Ashrama, Kolkata.
16. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर।
17. Raabe, P. B. (2001). Philosophical Counseling: Theory and Practice. Westport, CT: Praeger.
18. बृहदारण्यक उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
19. कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
20. पातञ्जल योगदर्शन (योगसूत्र), गीता प्रेस, गोरखपुर।
21. ईशावास्य उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
22. तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
23. मनुस्मृति, गीता प्रेस, गोरखपुर।
24. महाभारत (शान्तिपर्व), गीता प्रेस, गोरखपुर।
25. कौटिल्य, अर्थशास्त्र। साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
26. कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
27. Vivekananda, S. (2006). The Complete Works of Swami Vivekananda (Vol. 1). Kolkata: Advaita Ashrama.
28. मुण्डक उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
29. छान्दोग्य उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
30. वाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
31. अध्यात्म रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर।

*****

Sumangalam Prabha
A Peer Reviewed (Refereed) & Open Access Journal
RNI N0.- UPHIN/2009/31180

ISSN: 2250-1894
Vol.-16, No.-IV, Issus-64
Year: Jan.-March 2026

योग दर्शन में वर्णित यम-नियम का नैतिक अनुशीलन: योगसूत्र एवं प्रामाणिक ग्रंथों के विशेष संदर्भ में

प्रभा शंकर द्विवेदी
असि0 प्रोफेसर-दर्शन
काशी नरेश राजकीय स्नाकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही (उ०प्र०)

PP.N0- 49-52 **Received: 07.03.2026** **Accepted:17.03.2026** **Email: prabhashankar1803@gmail.com**

सारांश: भारतीय दर्शन परम्परा में महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणीत अष्टांग योग मानवीय चेतना के परिष्कार और मोक्ष प्राप्ति का प्रामाणिक मार्ग प्रस्तुत करता है। अष्टांग योग के प्रथम दो अंग—'यम' और 'नियम'—न केवल आध्यात्मिक साधना की आधारशिला हैं, अपितु वे सामाजिक एवं व्यक्तिगत नैतिकता के सर्वकालिक मानक भी स्थापित करते हैं। प्रस्तुत शोध आलेख का मुख्य उद्देश्य पतंजलि योगसूत्र, व्यासभाष्य एवं अन्य प्रामाणिक योग ग्रंथों के आलोक में यम तथा नियम के नैतिक अनुशीलन का गहन विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है।

अध्ययन में यह रेखांकित किया गया है कि यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) सामाजिक समरसता और बहिर्मुखी आचरण के नियमन हेतु अनिवार्य हैं, जबकि नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) व्यक्तिगत शुद्धि और अन्तर्मुखी चेतना के विकास का आधार निर्मित करते हैं। शोध पद्धति के अंतर्गत गुणात्मक एवं पाठ्य-विश्लेषणात्मक (Textual Analysis) उपागम का प्रयोग करते हुए योगसूत्रों तथा उनके प्रामाणिक भाष्यों का समालोचनात्मक अनुशीलन किया गया है। निष्कर्षतः, यम और नियम का अनुशीलन केवल प्राचीन धार्मिक अनुष्ठान मात्र नहीं है, अपितु यह आधुनिक समाज की नैतिक पतन, मानसिक तनाव एवं पारिस्थितिकीय असंतुलन जैसी विषमताओं का स्थायी व्यावहारिक समाधान प्रदान करता है।

कुंजीभूत शब्द : योग दर्शन, पतंजलि योगसूत्र, यम, नियम, व्यासभाष्य, नैतिक अनुशीलन, सार्वभौम महाव्रत, व्यासभाष्य।

भूमिका- भारतीय दर्शन की अंतर्धारा सदैव से केवल सैद्धांतिक विमर्श तक सीमित न रहकर व्यावहारिक जीवन-मूल्यों एवं नैतिक मूल्यों के परिष्कार से सम्बद्ध रही है। आन्वीक्षिकी के विविध सम्प्रदायों में योग दर्शन का स्थान अत्यंत विशिष्ट है, क्योंकि यह मानव चेतना को उसके उच्चतम रूपांतरण की ओर ले जाने हेतु एक क्रमिक और व्यावहारिक मार्गरेखा प्रदान करता है। महर्षि पतंजलि ने 'पातञ्जल योगसूत्र' में चित्तवृत्ति निरोध को योग का मूल लक्ष्य घोषित किया है। चित्त की चंचल वृत्तियों का शमन और असंप्रज्ञात समाधि की स्थिति केवल बौद्धिक अभ्यास से संभव नहीं है, इसके लिए साधक के सर्वांगीण नैतिक एवं आचरणगत परिष्कार की आवश्यकता होती है। इसी नैतिक और व्यावहारिक नींव को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से अष्टांग योग के अंतर्गत प्रथम दो सोपानों के रूप में 'यम' और 'नियम' की व्यवस्था की गई है।

मानव समाज की स्थिरता और उसकी आंतरिक शांति का सीधा संबंध उसकी आचरण संहिता से होता है। यदि व्यक्ति का व्यवहार हिंसा, असत्य, चोरी, भोगवादी लालसा और लोभ से ग्रसित हो, तो उसका चित्त निरंतर विक्षुब्ध रहेगा। विक्षुब्ध चित्त में न तो ध्यान संभव है और न ही तत्त्वज्ञान का स्फुरण। इसलिए पतंजलि ने योग-साधना का प्रारंभ आसन या प्राणायाम जैसे शारीरिक अभ्यासों से न करके 'यम' और 'नियम' से किया है। यम का संबंध व्यक्ति के बाहरी जगत् एवं समाज के साथ अंतर-संबंधों से है। यह एक प्रकार की सामाजिक नैतिकता (Social Ethics) है जो व्यक्ति को अन्य प्राणियों के साथ हिंसा-रहित, सत्यनिष्ठ, प्रामाणिक और अलोभी व्यवहार करने की प्रेरणा देती है। पतंजलि ने यमों को "जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्" (योगसूत्र २/३१) कहकर संबोधित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि यम वे सार्वभौम नैतिक सिद्धांत हैं जो किसी देश, काल, जाति या परिस्थिति के आधार पर बाधित या शिथिल नहीं किए जा सकते।

इसके विपरीत, 'नियम' का मुख्य संबंध व्यक्ति की अपनी आंतरिक और व्यक्तिगत शुद्धि (Personal Ethics) से है। बाह्य जगत् के साथ समरसता स्थापित करने के उपरांत साधक को अपनी अंतश्चेतना को अनुशासित करना होता है। शौच (शारीरिक व मानसिक शुद्धि), संतोष (संतुष्ट रहने की प्रवृत्ति), तप (द्वंद्वों को सहने की क्षमता), स्वाध्याय (सद्ग्रंथों का अध्ययन व स्व-विश्लेषण), तथा ईश्वरप्रणिधान (परम सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण)—ये पाँचों नियम साधक के भीतर सात्त्विक गुणों का आधान करते हैं और चित्त को एकाग्रता की ओर अग्रसर करते हैं।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जब संपूर्ण विश्व नैतिक मूल्यों के ह्रास, उपभोक्तावादी संस्कृति, सामाजिक विखंडन और आंतरिक तनाव से जूझ रहा है, तब योग दर्शन में वर्णित यम और नियम का अनुशीलन अत्यंत प्रासंगिक हो उठता है। यह अनुशीलन केवल मोक्षाभिलाषी

साधक के लिए ही उपयोगी नहीं है, बल्कि एक स्वस्थ, संतुलित और करुणापूर्ण समाज के निर्माण के लिए भी अत्यंत अनिवार्य है। प्रस्तुत शोध पत्र में इसी नैतिक अनुशीलन का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रमुख शोध प्रश्न-

- योग दर्शन में 'यम' और 'नियम' को अष्टांग योग की आधारशिला के रूप में किस प्रकार स्थापित किया गया है, और इनकी शास्त्रीय अवधारणा क्या है?
- क्या यम और नियम का प्रभाव केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति तक सीमित है, अथवा ये सामाजिक एवं वैश्विक नैतिकता के निर्माण में भी निर्णायक भूमिका निभाते हैं?
- पातञ्जल योगसूत्र, व्यासभाष्य एवं अन्य प्रामाधिक योग ग्रंथों के आलोक में यम-नियम के व्यावहारिक अनुशीलन से चित्त शुद्धि एवं योग-सिद्धि की प्राप्ति किस प्रकार संभव होती है?

साहित्य समीक्षा- यम और नियम के नैतिक एवं शास्त्रीय आयामों पर प्राच्य एवं आधुनिक विद्वानों ने विस्तृत विचार व्यक्त किए हैं। इस दिशा में मूल ग्रंथों तथा आधुनिक व्याख्याओं का अनुशीलन प्रासंगिक सिद्ध होता है:

महर्षि व्यास (व्यासभाष्य): योगसूत्रों पर उपलब्ध सबसे प्रामाणिक भाष्य 'व्यासभाष्य' में महर्षि व्यास ने यम और नियम के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म और तात्त्विक विश्लेषण किया है। व्यास के अनुसार, अहिंसा सभी यमों की मूल जड़ है तथा शेष सभी यम और नियम अहिंसा की सिद्धि और उसकी रक्षा के लिए ही प्रवृत्त होते हैं[1]। व्यासभाष्य यह स्पष्ट करता है कि यम और नियम का उल्लंघन चित्त में 'वितर्क' (अधर्म या अज्ञानजन्य विचार) उत्पन्न करता है, जिससे दुःखात्यन्त अभाव संभव नहीं हो पाता।

वाचस्पति मिश्र (तत्ववैशारदी) एवं विज्ञानभिक्षु (योगवार्तिक): इन आचार्यों ने यम-नियम के दार्शनिक पक्षों की विशद व्याख्या करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि यम-नियम के बिना किया गया योग का अभ्यास निष्फल और मात्र शारीरिक व्यायाम बनकर रह जाता है [2]।

स्वामी विवेकानंद (राजयोग): स्वामी विवेकानंद ने अपने ग्रंथ 'राजयोग' में यम और नियम को चरित्र निर्माण की मुख्य नींव माना है। उनके अनुसार, नैतिक चरित्र के बिना मानसिक शक्तियों का नियंत्रण या समाधि का अनुभव असंभव है। उन्होंने यम-नियम को सर्वकालिक मानव धर्म के रूप में व्याख्यायित किया है[3]।

डॉ. रामनाथ शर्मा (भारतीय नीतिशास्त्र): डॉ. शर्मा ने अपने अध्ययन में यह स्पष्ट किया है कि पतंजलि का यम-नियम संबंधी विचार केवल निवृत्तिगामी नीतिशास्त्र नहीं है, अपितु यह व्यक्ति और समाज के मध्य संतुलित समन्वय स्थापित करने वाला एक व्यावहारिक नीतिशास्त्र है [4]।

डॉ. कल्याणी दास (योग एवं नैतिक मूल्य): आधुनिक अनुसंधानों में यह स्थापित किया गया है कि यम और नियम का पालन मानसिक स्वास्थ्य और संवेगात्मक स्थिरता (Emotional Stability) के लिए अत्यधिक प्रभावकारी है।

साहित्य समीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि पूर्ववर्ती अध्ययनों में यम-नियम के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक पक्षों पर व्यापक चर्चा हुई है, किंतु योगसूत्रों के साथ-साथ प्रामाणिक भाष्यों के तुलनात्मक दृष्टिकोण से इनके नैतिक अनुशीलन और सामाजिक-आध्यात्मिक प्रासंगिकता को एक एकीकृत ढांचे में प्रस्तुत करने की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है। प्रस्तुत आलेख इसी रिक्ति को भरने का प्रयास करता है।

शोध विश्लेषण एवं विवेचन-

यम का नैतिक अनुशीलन: सामाजिक समरसता का आधार- योगसूत्र के साधनपाद में महर्षि पतंजलि ने पाँच यमों का परिगणन किया है:

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (योगसूत्र २/३०)"

१. अहिंसा (Non-violence): व्यासभाष्य के अनुसार, "तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः" अर्थात् किसी भी प्राणी को किसी भी काल में, किसी भी प्रकार से (मन, वचन, कर्म द्वारा) कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है [1, पृ. १८५]। अहिंसा केवल एक नकारात्मक गुण (हिंसा न करना) नहीं है, बल्कि यह सर्वप्राणी-दया और करुणा की सकारात्मक भावना है। पतंजलि कहते हैं कि जब साधक में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है, तो उसके सन्निधि में वैर-भाव का त्याग हो जाता है ("अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः", योगसूत्र २/३५) [5, पृ. १९८]।

२. सत्य (Truthfulness): सत्य का अर्थ केवल यथार्थ बोलना ही नहीं है, बल्कि वाणी और मन का यथार्थ-विषय के अनुकूल होना है। व्यासभाष्य में कहा गया है कि वाणी ऐसी होनी चाहिए जो दूसरों को धोखा न दे, भ्रांत न करे और दूसरों के हित के लिए हो [1, पृ. १८७]। सत्य की प्रतिष्ठा से साधक में क्रिया-फल की आश्रयता आ जाती है ("सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्", योगसूत्र २/३६) [5, पृ. २००]।

३. अस्तेय (Non-stealing): अस्तेय का शाब्दिक अर्थ है चोरी न करना। शास्त्रों के अनुसार, अनधिकृत रूप से किसी दूसरे के द्रव्य या अधिकार की स्पृहा (इच्छा) न करना ही अस्तेय है। अस्तेय की सिद्धि होने पर साधक को सर्व-रत्नों की उपस्थिति का फल प्राप्त होता है ("अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्", योगसूत्र २/३७) [5, पृ. २०२]।

४. ब्रह्मचर्य (Celibacy/Self-restraint): ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ गुप्तेंद्रिय का संयम तथा चेतना को ब्रह्म (परम सत्य) के चिंतन में लगाना है। व्यासभाष्य के अनुसार, उपस्थ-इंद्रिय का संयम ही ब्रह्मचर्य है [1, पृ. १८९]। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से साधक में 'वीर्य लाभ' अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सामर्थ्य की वृद्धि होती है ("ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः", योगसूत्र २/३८) [5, पृ. २०४]।

५. अपरिग्रह (Non-possessiveness): विषयों के अर्जन, रक्षण और क्षय में दोष देखकर उनका संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। अत्यधिक भौतिक वस्तुओं का संग्रह मन में आसक्ति और चिंता पैदा करता है। अपरिग्रह के दृढ़ होने पर साधक को अपने पूर्व और भावी जन्मों का ज्ञान प्राप्त होता है ("अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः", योगसूत्र २/३९) [5, पृ. २०६]।

सार्वभौम महाव्रत- पतंजलि ने इन यमों को किसी विशेष वर्ग, स्थान या समय तक सीमित न मानकर "सर्वभौमा महाव्रतम्" (योगसूत्र २/३१) माना है [5, पृ. १९२]। उदाहरणार्थ, यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि मछली पकड़ने वाला केवल तीर्थ स्थान में हिंसा नहीं करेगा; अहिंसा का नियम हर स्थान, हर काल और हर परिस्थिति में प्रासंगिक है।

नियम का नैतिक अनुशीलन: व्यक्तिगत परिष्कार की प्रक्रिया- साधनपाद में पाँच नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है:

"शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (योगसूत्र २/३२)"

चित्त शुद्धि व योग साधन

यम (बाह्य/सामाजिक)	नियम (आंतरिक/व्यक्तिगत)
1. अहिंसा	1. शौच
2. सत्य	2. सन्तोष
3. अस्तेय	3. तप
4. ब्रह्मचर्य	4. स्वाध्याय
5. अपरिग्रह	5. ईश्वर प्राणिधान

१. शौच :शौच दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यंतर। जल, मृत्तिका आदि से शरीर की शुद्धि बाह्य शौच है, जबकि मन के मल (राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि) का प्रक्षालन आभ्यंतर शौच है। शौच की सिद्धि से अपने अंगों के प्रति जुगुप्सा (अनासक्ति) तथा दूसरों के संसर्ग का अभाव होता है, साथ ही सत्त्वशुद्धि और एकाग्रता प्राप्त होती है (योगसूत्र २/४०-४१) [5, पृ. २०९]।

२. संतोष : अप्राप्त वस्तु की तृष्णा न होना और जो प्राब्ध से प्राप्त है उसी में प्रसन्न रहना संतोष है। व्यासभाष्य के अनुसार, संतोष से अनुत्तम (सर्वश्रेष्ठ) सुख की प्राप्ति होती है *("संतोषादनुत्तमः सुखलाभः",* योगसूत्र २/४२) [1, पृ. १९५]।

३. तप: शीत-उष्ण, भूख-प्यास, मान-अपमान आदि द्वंद्वों को सहन करना तप कहलाता है। तप से शरीर और इंद्रियों की अशुद्धियों का क्षय होता है और उनमें विशेष सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं *("कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः*", योगसूत्र २/४३) [5,पृ. २१३]।

४. स्वाध्याय: मोक्षशास्त्रों (वेद, उपनिषद, योगग्रंथ) का अध्ययन तथा 'ॐ' आदि प्रणव का जप स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय से अभीष्ट इष्टदेव का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है ("*स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः*",योगसूत्र २/४४)[5,पृ. २१५]।

५. ईश्वरप्रणिधान: अपने संपूर्ण कर्मों और उनके फलों को ईश्वर के प्रति अर्पित कर देना ईश्वरप्रणिधान है। इससे समाधि की सिद्धि शीघ्रता से होती है ("*समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्*", योगसूत्र २/४५) [5, पृ. २१७]।

प्रतिपक्ष भावनम्: नैतिक स्खलन का समाधान- यम और नियम के पालन के दौरान जब हिंसामूलक या अधार्मिक विचार (वितर्क) उठते हैं, तब महर्षि पतंजलि एक मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करते हैं:

"वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् (योगसूत्र २/३३)"

अर्थात् जब हिंसा, असत्य आदि दुर्विचार मन को बाधित करें, तब उनके विपरीत सात्त्विक विचारों का चिंतन (प्रतिपक्ष भावन) करना चाहिए [5, पृ. १९४]। व्यासभाष्य में व्यासदेव समझाते हैं कि व्यक्ति को यह चिंतन करना चाहिए कि—"विषय-तृष्णा रूपी आग में

जलते हुए मैंने योग रूपी शरण ली है; यदि मैं पुनः हिंसा आदि कुमार्ग पर जाता हूँ तो मैं कुत्ते के समान अपने ही वमन को चाटने वाला बनूँगा" [1, पृ. १९३]। यह प्रतिपक्ष भावन व्यक्ति के नैतिक पतन को रोकने का अमोघ उपाय है।

निष्कर्ष- योग दर्शन में वर्णित यम और नियम का अनुशीलन केवल धार्मिक अनुष्ठानों की श्रृंखला मात्र नहीं है, अपितु यह मानव चेतना को परिष्कृत करने का एक संपूर्ण, व्यावहारिक और वैज्ञानिक नीतिशास्त्र (Practical Ethics) है।

शोध विश्लेषण के आधार पर निम्नलिखित प्रमुख निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:

अष्टांग योग का मूलाधार: यम और नियम के बिना आसन, प्राणायाम या ध्यान का अभ्यास साधक को आध्यात्मिक उन्नति प्रदान नहीं कर सकता। यम और नियम चित्त के विक्षेपों (मल और विक्षेप) को दूर कर उसे एकाग्रता एवं समाधि के योग्य बनाते हैं।

व्यक्तिगत एवं सामाजिक संतुलन: यम जहाँ एक ओर अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह के माध्यम से शोषण-मुक्त, अहिंसक और न्यायपूर्ण समाज का आधार तैयार करते हैं, वहीं नियम (शौच, संतोष, तप आदि) व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य, आंतरिक संतोष और अनुशासन को सुनिश्चित करते हैं।

सार्वभौमिकता (Universal Applicability): पतंजलि द्वारा यमों को 'सार्वभौम महाव्रत' घोषित करना यह सिद्ध करता है कि ये नैतिक मूल्य देश, काल, जाति और धर्म की सीमाओं से परे हैं। ये सर्वकालिक और सार्वदेशिक मानव-मूल्य हैं।

आधुनिक विषमताओं का समाधान: वर्तमान युग में व्याप्त उपभोक्तावाद, मानसिक तनाव, पर्यावरणीय क्षरण तथा हिंसक प्रवृत्तियों के शमन के लिए यम का 'अपरिग्रह' और 'अहिंसा' तथा नियम का 'संतोष' और 'शौच' व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करते हैं।

संक्षेप में, यम और नियम का नैतिक अनुशीलन व्यष्टि (व्यक्ति) से समष्टि (समाज व विश्व) तक समरसता, शांति और आनंद की स्थापना का अमोघ मार्ग है। योग के इस आचरणगत पक्ष को पुनः जीवन में अंगीकार करना समय की महती आवश्यकता है।

पाद-टिप्पणी:

1. व्यास, महर्षि. (२०१५). पातञ्जलयोगदर्शनम् (व्यासभाष्य संवलित) (संपादक एवं व्याख्याकार: स्वामी ब्रह्मलीन मुनि). चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पृ. १८५-१९६.
2. मिश्र, वाचस्पति. (२०१०). तत्ववैशारदी: पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्या (संपादक: डॉ. रामशंकर त्रिपाठी). सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, पृ. १२४-१३०.
3. विवेकानंद, स्वामी. (२०१८). राजयोग. रामकृष्ण मठ प्रकाशन, पृ. ७५-८२.
4. शर्मा, डॉ. रामनाथ. (२०१२). भारतीय नीतिशास्त्र. केदारनाथ रामनाथ प्रकाशन, पृ. १४५-१५२.
5. पतंजलि, महर्षि. (२०१८). पातञ्जल योगसूत्र (व्याख्याकार: स्वामी द्वारिकादास शास्त्री). सुभारती प्रकाशक, पृ. १९०-२२०.

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. पतंजलि, महर्षि. (२०१८). पातञ्जल योगसूत्र (व्याख्याकार: स्वामी द्वारिकादास शास्त्री). वाराणसी: सुभारती प्रकाशक. [पेज न० १९०-२२०]
2. व्यास, महर्षि. (२०१५). पातञ्जलयोगदर्शनम् (व्यासभाष्य संवलित) (संपादक एवं व्याख्याकार: स्वामी ब्रह्मलीन मुनि). वाराणसी: चौखम्भा संस्कृत संस्थान. [पेज न० १८५-१९६]
3. मिश्र, वाचस्पति. (२०१०). तत्ववैशारदी: पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यव्याख्या (संपादक: डॉ. रामशंकर त्रिपाठी). वाराणसी: सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय. [पेज न० १२४-१३०]
4. शर्मा, डॉ. रामनाथ. (२०१२). भारतीय नीतिशास्त्र. मेरठ: केदारनाथ रामनाथ प्रकाशन. [पेज न० १४५-१५२]
5. विवेकानंद, स्वामी. (२०१८). राजयोग. नागपुर: रामकृष्ण मठ प्रकाशन. [पेज न० ७५-८२]

*****